श्रीदक्षिणांमूर्तये नमः



आत्मविज्ञान

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी



श्रीदक्षिणामूर्तये नमः



आत्मविज्ञान

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

श्रीविष्णुदास मेहता, ओयल, द्वारा निःशुल्क वितरित

संवत् २०६८ कार्तिक कृष्ण २, १४.१०.२०११

ॐ

प्रकाशकीय

श्रीमत्परमहंसपिव्राजकाचार्य निरञ्जन पीठाधीश्वर **श्री१०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज** के दिव्य अमृतमय व्याख्यान लगभग पचास वर्षों तक अनवरत उपलब्ध होते रहे जिनसे असंख्य असंस्कारियों में श्रद्धा का उन्मेष हुआ, अनेक श्रद्धालुओं में विवेक का प्रकाश हुआ, बहुत-से विवेकियों की साधना प्रारम्भ हुई और काफी संख्या में ऐसे हैं जिन्हें शान्ति, सन्तोष, कृतार्थता की उपलब्धि हुई। वेदान्त-परम्परा अनादिकाल से शास्त्र की आचार्योक्त व्याख्या को समझकर जीवन में लाने की रही है। अनुभव में वेदान्त विज्ञान का अवसान है, केवल चिन्तन-कुशलता का लगभग कोई महत्त्व नहीं है। समय-समय पर ग्रन्थकार, आचार्य हुए एवं जो ग्रन्थ रचना में नहीं भी संलग्न हुए, ऐसे ब्रह्मनिष्ठ भी 'कथयन्तश्च मां नित्यम्' के भगवन्निर्देश का पालन करते हुए मुमुक्षुओं का पथप्रदर्शन करते ही रहे हैं। शास्त्र-वचनों का सार हृदयंगम करना साधकों के लिये अनिवार्य है।

उपनिषत्-साहित्य में बृहदारण्यक का अत्यन्त महत्त्व है। सबसे विस्तृत भाष्य उसी पर है, सुरेश्वराचार्य ने उसी पर बारह हज़ार श्लोकों का वार्तिक रचा! उपनिषदें सभी परिपूर्ण हैं पर

जितना संग्रह इस बृहदारण्यक में सुलभ है उतना अन्यत्र नहीं यह प्रत्यक्ष ही है। इसका एक प्रसिद्ध मन्त्र आचार्य श्रीभारती तीर्थ को इतना गम्भीर लगा कि उन्होंने पंचदशी में एक समूचे प्रकरण में दो सौ अट्ठानबे श्लोकों में उसका विवेचन किया। फरवरी सन् १९८५ में श्री महाराजजी ने तदनुसार उस मन्त्र पर प्रवचन दिये थे जिनमें कुछ को पट्टलेखों में एकत्र किया गया था पर उनमें से भी अनेक बिगड़ गये और वह वक्तव्यमाला अतिखण्डित रूप में बच पायी। श्रद्धालु श्री महेश पचौरी ने अथक परिश्रम से पट्टलेख सुनकर यथासम्भव लिपिबद्ध किया। जितना भाग संग्रह हो पाया वही सुरक्षित रह जाये—इस भाव से ग्यारह प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। आदि-मध्य-अन्त तीनों खण्डित होने पर भी उपलब्ध उपदेश साधन-निरूपण के लिये पर्याप्त है। ब्राह्मणोपयोगी वित्त की चर्चा अतिगम्भीर है। ज्ञानयोग्यता पाने की कोशिश हर कल्याणेच्छुक की प्राथमिकता होती है। साध्यविचार आवश्यक है लेकिन उसे समझ पाने के लिये ज़रूरी साधन अपनाना और भी अधिक अनिवार्य है। अतः महाराजश्री जी ने इस विषय पर विशेष बल दिया है।

पूज्यपाद अनन्तश्री विभूषित महाराज श्रीजी के तृतीय समाराधन दिवस पर श्री संजीव मेहता के उत्साह से यह पुस्तिका प्रकाशित कर संस्था गुरुचरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करती है।

विषय-सूची

॥ॐ॥

आत्मविज्ञान

लोकपरीक्षा

ॐ विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः ।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ॥

मम न भजनशक्तिः पादयोस्ते न रक्तिः
न च विषयविरक्तिर्ध्यानयोगे न सक्तिः ।
इति मनंसि सदाऽहं चिन्तयन्नाद्यशक्ते!
रुचिरवचनपुष्पैरर्चनं सञ्चिनोमि ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने ।
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्त्तये नमः ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्र का विचार कर रहे हैं—

'आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत् ।।'

इसमें श्रुति बतलाती है कि उस आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया, तो फिर न किसी विषय की इच्छा, न किसी की कामना मनुष्य को संतप्त कर सकती है। उस आत्मा के अपरोक्ष स्वरूप का ज्ञान क्यों नहीं है? उसकी दुर्लभता किंनिमित्तक है, किस कारण से है?—इसका विचार करते हुए समझ आता है कि यह मन का ही दोष है। मन उस परमात्म-तत्त्व को विषय न करके, अनात्म पदार्थों की आसक्ति से अनात्म पदार्थों का ही ग्रहण करता रहता है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा, विषयों से वैराग्य आवश्यक है। स्वभाव से मनुष्य में राग है। जीव के स्वरूप को बतलाते हुये, आचार्य विद्यारण्य प्रतिपादित करते हैं कि अज्ञान जीव में स्वाभाविक है, सहज है, नैसर्गिक है। यह कैसे बढ़ता है, कैसे कम होता है—इसका तो विचार किया जा सकता है। परन्तु इसके रहते ही साधन प्रारम्भ करना है, इसके होने में सन्देह नहीं। जीव की सात अवस्थायें हैं—

'अज्ञानम् आवृतिस्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥'
(तृप्तिदीप. ३३)

अज्ञान, अज्ञान से आवरण-विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोक की निवृत्ति और असीम तृप्ति। यह रास्ता जीव को पार करना पड़ता है। अपरोक्ष ज्ञान के बाद शोक की निवृत्ति होती है। इस क्रम से जीव बढ़ता है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारम्भ में एक बड़ा गहन प्रश्न उठाते हैं। देखने को प्रश्न बड़ा सरल है, विचार करके देखें तो बड़ा गहन है। इतना गहन है कि साधारण व्यक्ति वह प्रसंग देखता है तो जो पूर्व पक्ष है वह उसको सिद्धान्त लगता है!

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आत्मा और अनात्मा सर्वथा भिन्न हैं, जड और चेतन सर्वथा भिन्न हैं। दोनों के लिये शब्द बिलकुल अलग काम में आते हैं। आत्मा को 'मैं' शब्द से कहते हो, अनात्मा को सामने होने वाला बताने के लिये 'तुम' शब्द से कहते हो। 'मैं' शब्द से आत्मा ही कहा जाता है तथा 'तुम' शब्द कभी आत्मा को नहीं, उससे अन्य अर्थात् अनात्मा को ही कहता है। 'मैं' से कभी अनात्मा को कहोगे नहीं। दोनों की प्रतीति भी सर्वथा भिन्न है। अनात्मा सामने दीखता है, आत्मा अन्दर की तरफ अनुभव होता है। मूर्ख से भी पूछो 'तुम्हारा आत्मा कहाँ है?' तो कहेगा 'आत्मा यहाँ अन्दर है'। पूछो 'संसार कहाँ है?' तो क्या कभी कहता है कि यहाँ अन्दर है? सामने ही दिखलाता है कि यह संसार है। जैसे रोशनी और

अँधेरे में कभी एकता का भ्रम सम्भव नहीं। क्योंकि रोशनी और अँधेरा सर्वथा अलग हैं, वैसे चेतन और जड भी सर्वथा अलग हैं। दोनों को अलग बतलाना देखकर समझोगे कि अपनी बात कह रहे हैं, सिद्धान्त लगता है।

किन्तु आचार्य आगे कहते हैं कि यह बात तो सब जान लेते हैं, इसको समझने में कठिनाई नहीं है। कठिनाई इस बात को समझने में है कि दोनों बिलकुल अलग जानते हुये भी फिर बड़े से बड़े विद्वान् भी व्यवहार करते हैं दोनों को मिला करके, एक करके! भाष्यकार कहते हैं कि हरी-हरी घास लेकर गाय की तरफ जाओ वह प्रेम से तुम्हारी तरफ आती है। लाल आँखें करके डंडा लेकर उसी गाय की तरफ जाओ, तो वह पूँछ उठाकर भागती है। आचार्य शंकर कहते हैं कि—इसी तरह से आत्मा और अनात्मा, जड और चेतन, सर्वथा अलग कहने-समझने वाले भी ठीक उस पशु की तरह अनुकूल परिस्थिति को देखकर उसकी तरफ दौड़ते हैं और प्रतिकूल परिस्थिति को देखकर उससे दूर दौड़ते हैं। जानते हैं कि शरीर से मैं भिन्न हूँ। कौन नहीं जानता कि 'मैं मर जाऊँगा, शरीर छोड़कर चला जाऊँगा'? इसे जानने के लिये बड़ी विद्वत्ता चाहिये क्या? फिर भी शरीर के लिये ही सबेरे से शाम तक प्रवृत्ति करता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि यही विचित्र बात है कि दोनों को अलग-अलग देखते हुए भी दोनों का आपस में अध्यास हो जाता है। कौन रस्सी और साँप को अलग-अलग नहीं जानता? रस्सी जड है, काम की चीज़ है, साँप चेतन है काट लेगा,

भयानक है। इस प्रकार रस्सी और साँप को सर्वथा अलग जानने वाला भी जिस समय रस्सी को साँप देखता है तब क्या दोनों के भेद को देखता है? जिस समय रस्सी और साँप के गुणों का वर्णन करोगे, तब तो रस्सी और साँप बिलकुल अलग दीखेंगे। मंद अन्धकार में रस्सी को साँप देखते हो, उस समय उसे सर्प ही समझ कर भागते हो। भेदज्ञान तो है, परन्तु वह अज्ञान से प्रतीत होने वाले अभेद को दूर नहीं कर सकता है जिससे वह रस्सी नहीं, साँप ही दीखता है। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं कि यह अज्ञान एक भावरूप पदार्थ है। ठीक एक चिकित्सक की तरह, आचार्य निदान करते हैं कि यह जो संसार रोग है, इसका निदान है अज्ञान। आत्मा का साक्षात्कार न होना अज्ञान है। उसी साक्षात्कार को यहाँ कहा—'अयमस्मीति पूरुषः'। आत्मा के लक्षण को याद करने से अज्ञान नहीं मिटेगा। जब तक उसका साक्षात्कार नहीं हो जायेगा तब तक कल्याण नहीं। इसलिये संसार रोग का निदान है यह अज्ञान, आत्मविषयक अज्ञान, आत्मा का साक्षात्कार न होना।

इसकी निवृत्ति कैसे होवे? अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञान से और ज्ञान विवेक से, विचार से होता है। इसलिये उपनिषद् कहती है—'लोकान् परीक्ष्य'। विलक्षण है वेदों की भाषा! 'लोक' शब्द का अर्थ होता है विषय, जिनको 'लौका' जाये, विषय किया जाये, देखा जाये। जो चीज़ें अनुभव में आती हैं उन विषयों को ही 'लोक' कहते हैं। यह भारोपीय शब्द है। इसलिये अंग्रेज़ी में भी देखने को Look कहते हैं। विचार करो, जो विषय तुमको

बाँध रहे हैं, श्रुति कहती है, उन्हीं की परीक्षा करो। हम सोचते हैं कि संसार के पदार्थों से *भिन्न* कोई चीज़ होगा, जिसका विचार करेंगे तो परमात्मदर्शन हो जायेगा। लेकिन वेद कहता है कि जिस चीज़ का तुम अनुभव कर रहे हो, उसी को भली प्रकार से देखो, परीक्षा करो। किसी अन्य चीज़ का विचार करने को नहीं कह रहे हैं। जिन चीज़ों के साथ रात-दिन व्यवहार कर रहे हो, उन्हीं को देखना है। न सातवें आसमान पर बैठे भगवान् का विचार करो, न गोलोकवासी का विचार करो, जो तुम्हारे सामने अनुभव के विषय हैं, उन्हीं का विचार करो। पर मनुष्य संसार की सब चीज़ों के बारे में सोच लेगा, पर जो सामने है, उसका विचार नहीं करना चाहता। सोचता है कि परमेश्वर इस संसार से किसी भिन्न जाति का पदार्थ है। तुमको साँप दीख रहा है। जब कहते हैं 'यहाँ रस्सी हो जायेगी' तो तुम सोचते हो, कोई जप, अनुष्ठान बतला देंगे, उसके प्रभाव से यह रस्सी हो जायेगी! कोई तपस्या, मन्त्र, ध्यान बतला देंगे, जिससे यह रस्सी हो जायेगी। इसलिये सामने देखते नहीं हो। किसी मन्त्र या ध्येय पदार्थ की तरफ़, अन्य तरफ़ देख रहे हो। वहाँ साँप खड़ा है। इसलिये वेद ने यह नहीं कहा कि 'यह रस्सी हो जायेगी', वेद कहता है कि 'यह रस्सी ही है' जो तुमको साँप दीख रहा है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ईशा वास्यम् इदं सर्वम्', 'पुरुष एवेदं सर्वम्'। वेद कह रहा है कि जिसको तुम देख रहे हो, जो यह लोक है, 'इदम्' है, यही परमात्मा है लेकिन संस्कार ऐसे दृढ पड़े हैं कि हम कहते हैं 'हमारे लिये तो यह साँप ही है।' विचार करो; साँप तुमको रस्सी रूप में कब प्रतीत होगा? जब तुम

उसको अच्छी तरह से देखोगे, उसमें लक्षण घटाओगे। उसी का तुमको विश्लेषण करके देखना पड़ेगा कि वह सचमुच क्या है। दुनियाँ में तुम सारी चीज़ों को ढूँढ लो पर जहाँ साँप दीखा, उसको न सँभालो, तो क्या तुमको पता लगेगा कि यह साँप नहीं है, रस्सी है? अतः अतिधन्य वेद कहता है कि जहाँ तुमको यह संसार दीख रहा है वहीं ज़रा ध्यान करके देखो, 'परीक्ष्य लोकान्'। वहाँ नहीं देख करके, मन में जो संस्कार भरे हैं, उन्हीं से रंजित देखते रहने से सही समझ नहीं आयेगा। आचार्य विद्यारण्य कहते हैं—

'संसारसक्तचित्तः सन् चिदाभासः कदाचन।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम्॥'

जो मन में संसार की वासना भरी है, उसमें आसक्त हुआ जीव किसी चीज़ की परीक्षा करने में तो उतरता ही नहीं। बाकी सब चीज़ों का विचार कर लेगा पर जहाँ दुःख, बन्धन का अनुभव हो रहा है उसका विचार नहीं करेगा। इसलिये अपने ही आप को नहीं जान पा रहा।

जब परीक्षा करता है तब पाता है कि, जिस किसी अनुभव की परीक्षा करे, वहाँ दो चीज़ें मिलेंगी—एक वह चीज़ जो कर्म से प्राप्त है। दूसरी वह जो किसी कर्म के बिना रहती है। दोनों तरह की चीज़ें मिलेंगी। कैसे? मुझे घड़ेका ज्ञान है। मैंने उसे आँखों से देखा, रोशनी में देखा। उसको देखने के लिये मुझे कर्म करना पड़ा। आँखों का और रोशनी का उपयोग किया। अतः *घड़े का* अनुभव तो कर्म से हुआ, लेकिन घड़े का जो

ज्ञान हुआ, वह किसी कर्म से नहीं हुआ। आँखें नहीं खोलीं तो 'मुझे कुछ नहीं दीख रहा है'—इसका ज्ञान था। आँखें खोलीं तो घड़े का ज्ञान हुआ। रोशनी हुई तो घड़ा दीखा, अन्यथा नहीं दीखा। कभी 'नहीं दीखने' का ज्ञान, कभी अँधरे का ज्ञान, कभी घड़े का ज्ञान, लेकिन ज्ञान तो सब समय है ही। घड़े को देख कर सुख हुआ तो पहले का कोई पुण्य कर्म है तभी सुख हुआ। एक बार हम काशी में कहीं जा रहे थे; काशी में पहले कभी खुले में अण्डे नहीं बिकते थे। हमने देखा कि एक ठेले पर बड़े-बड़े रसगुल्ले रक्खे थे! पर रसगुल्ले तो बरनी या कुल्हड़ में होते हैं। सोचा, शायद ओले के लड्डू हों, या शायद सूखा रसगुल्ला हो। साथ वाले ने तब बताया कि ये तो अण्डे हैं, रसगुल्ले नहीं हैं। आजकल अण्डा खाने का फैशन हो गया है। विचार करो, मन में जब रसगुल्ला देखा तब कोई पुण्य का प्रारब्ध था, प्रसन्नता हो रही थी। जब पता लगा कि अण्डा है तब कोई पाप कर्म उदय हो गया। मन में दुःख हुआ कि लोग यह भी खाने लगे। चाहे आँखें खोलने का कर्म हो या पूर्व कर्म से सुख-दुःख का अनुभव हो, हर दशा में सुख का भी, दुःख का भी *ज्ञान* है।

किसी भी अनुभव में तुमको दो चीज़ें मिलेंगी। एक 'कर्मचित' अर्थात् कृति-साध्य, दूसरी वह जो कृतिसाध्य नहीं है, जो हमेशा बनी रहती है, कभी भी जाती नहीं। आचार्य शंकर ने उपनिषदों का मंथन करके यह रहस्य निकाला कि क्या कारण है, आत्मा-अनात्मा, जड-चेतन का विवेक करने के बाद भी

काम बनता नहीं, दुःख हटता नहीं है? आत्मा के सारे स्वरूप बतला देंगे, सच्चिदानन्द आदि, अनात्मा के स्वरूप बता देंगे असत् जड दुःख आदि, फिर भी दुःख मिटता क्यों नहीं? जब तक आत्मा और अनात्मा को दो देख रहे हो, तब तक पता नहीं चल रहा है कि तुम जिसको अनात्मा देख रहे हो, वही आत्मा है। 'अकृत' जो कृति से उत्पन्न नहीं हुआ, वही सच्चिदानन्द है। सुख पुण्य का फल है। सुख का *ज्ञान* पुण्य का फल नहीं है। पुण्य का फल है तो सुख का ज्ञान है, पाप का फल है तो दुःख का ज्ञान है पर ज्ञान दोनों एक जैसे हैं। आत्मा-अनात्मा को अलग-अलग जानना ज़रूरी है, जो रस्सी और साँप दोनों को जानेगा नहीं, उसको यह भी पता नहीं लगेगा कि यहाँ साँप नहीं, रस्सी है। अतः यह न समझना कि आत्मा और अनात्मा का ज्ञान ज़रूरी नहीं है, लेकिन उतने से अज्ञान निवृत्त नहीं हो जायेगा। जहाँ तुमको अनात्मा दीख रहा है वहीं तुमको अनात्मा की दृष्टि हटाकर आत्मा को देखना है। इस तरह संसार में दो चीज़ें हैं 'अकृत' और 'कृत'। अब तक कृत ही देख रहे हो, कर्म से होने वाली चीज़ों को ही देख रहे हो; जो अकृत है, उसको देख नहीं रहे। इसको हटाने के लिये आवश्यक है कि वहीं परीक्षा की जाये।

परीक्षा करने से क्या होगा? श्रुति कहती है 'ब्राह्मणो निर्वेदम् आयात्' कि ब्राह्मण वैराग्य, परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा। परीक्षा कर ली तो निर्वेद की प्राप्ति हो जायेगी। श्रुति ने कहा कि यह ब्राह्मण ही कर पायेगा, जो परमात्मा की तरफ

प्रवृत्ति वाला है, वही कर पायेगा, दूसरा नहीं। दूसरा तो कृत को पकड़ने के चक्कर में अकृत हाथ से खोता ही रहेगा। खो कभी नहीं सकता है! लेकिन उससे कोई लाभ नहीं ले पायेगा।

एक बार प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इत्यादि यादव वंशी, हिमालय की तरफ गये, यक्षों पर, यक्षराज कुबेर पर विजय प्राप्त करने के लिये। कुबेर को समाचार भेजा 'तुम हमारा आधिपत्य स्वीकार करो, उग्रसेन महाराजा को कर भेजो अन्यथा हम युद्ध करेंगे।' कुबेर यक्षराज हैं। उन्होंने कहा 'यह तुम्हें शोभा देता नहीं है। तुम लोग वेदशास्त्र को मानने वाले हो। रोज़ वैदिक ब्राह्मण कहता है, 'कुबेराय वै श्रवणाय महाराजाय' कुबेर विश्रव के पुत्र हैं, वे ही महाराज हैं। इसलिये मैं कैसे दूसरे को अपना राजा स्वीकार करूँ? मैं कर नहीं दूँगा। मैं धनाध्यक्ष हूँ। धन और युद्ध—दोनों काम अलग-अलग हैं।' एक बार हम तीर्थयात्रा में बस में गये थे। बीच में एक तीर्थ स्थल आया जहाँ स्नान की विधि है, पर बस ड्राइवर वहाँ रुकने को तैयार नहीं था। साथ में वैश्य धनिक-लोग थे, उन्होंने उसे रुपया देकर रोकने का प्रयास किया। वह माना नहीं। हमारे पूछने पर उसने बताया कि 'मैं हिन्दू हूँ' तब हमने उससे भी स्नान करके पुण्य कमाने को कहा। उसने ऐसा ही किया। पैसों के स्थान पर स्नान का पुण्य प्राप्त करना उचित समझा। ऐसे ही कुबेर ने कहा 'कर के रूप में न लो क्योंकि हमारा नाम 'महाराज' है पर हमसे वैसे ही ले लो।' प्रद्युम्न आदि क्षत्रिय थे अतः कर के रूप में ही चाहते थे, दान रूप में कुछ भी नहीं ले सकते थे। कुछ उपाय न होने से युद्ध हुआ। कृतवर्मा, अर्जुन आदि वीरों को, कुबेर के दो सेना-

नायकों घंटानाद एवं पार्श्वमौलि ने घायल कर दिया, तब अर्जुन ने दो योजन तक बाणों से एक घेरा बना दिया, दोनों सेना नायक उसमें घिर गये। उन्हें मरा समझ सभी सैनिक वहाँ से भाग गये। कुबेर ने सप्तमातृकाओं की सेना भेजी पर बलदेव के भाई गद ने उनको मार कर भगा दिया। यक्षराज ने तब गणेशजी का स्मरण किया। गणेश एवं कुबेर का बड़ा सम्बन्ध है। एक शंकर-पुत्र और दूसरा शंकर-भक्त। गणेशजी युद्ध में गये। गणेश कृष्णावतार हैं। पर अनिरुद्ध ने बिलाव रूप धारण किया जिससे चूहा गणेशजी को अन्यत्र ले गया! तब शिव की शक्तिरूप बाण ने युद्ध में कुबेर को मूर्छित कर दिया। उसने हार मान ली। कर देना स्वीकार लिया और गणेशजी को दूर करके ही युद्ध जीता जा सका।

इसी प्रकार कोई चाहे कि 'मैं मन के सारे विकारों को समाप्त कर लूँगा, सभी संस्कारों को समाप्त कर लूँगा तब जीतूँगा' तो यह कभी नहीं हो सकता। जितनी देर तुमको युद्ध (परीक्षा) करना है, उतनी देर यदि मन के राज को हटा दो तो इस बीच ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। फिर बीच में यदि प्रारब्ध-भोग आयेगा तब भी तुम्हारे बन्धन का कारण बनेगा नहीं। जिस समय प्रारब्ध का मंद भोग आता है, उस समय मन दबाकर ज्ञान की साधना में लग जाओ, यह न सोचो कि मन में कुछ और दोष पड़े हैं। नीतिकार कहते हैं कि अपना कार्य बना लेना चाहिये, कार्य की हानि करना मूर्खता है, 'कार्यभ्रंशो हि मूर्खता'। बुद्धिमान् को अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये। इसी प्रकार आत्मा के साक्षात्कार को प्राप्त करना, अपना कार्य है,

अन्तःकरण की शुद्धि करना अपना उद्देश्य नहीं है। अंतःकरण कितना साफ हुआ—इसकी चिन्ता नहीं है। यह साधन है; जितना उससे काम लेना अपेक्षित है, उतनी शुद्धि कर लेनी है। अंतःकरण में अव्यक्त भाव से पड़ी हुई विषयों की छाप बन्धनका कारण नहीं बन पायेगी। जिस काल में तुम परीक्षा (आत्मदर्शन) कर रहे हो, उस समय तुम्हारा मनरूप शीशा साफ होना चाहिये। लकड़ी को तुमने घिसकर अच्छी तरह से चमका दिया, पालिश कर दी, मन पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ गया। कोई कहे 'पीछे तो लकड़ी मैली है उसका क्या होगा?' पर जितने पर प्रतिबिम्ब पड़ कर हमें सूर्य दीख गया, उतने से हमारा काम तो हो गया। इसी प्रकार से अन्तःकरण में जिस समय विचार कर रहे हैं, उस समय विषयासक्ति न रहे, आत्माकार वृत्ति बना लें यही ज़रूरी है, अन्तःकरण की सारी शुद्धि होने की चिन्ता न करें। उद्देश्य आत्मज्ञान है। वैराग्य उद्देश्य नहीं, वह तो आत्मज्ञान का साधन है, आवश्यक है। चार रसगुल्ले खाने के लिये दो रूपया ही पर्याप्त है, जेब में चाहे दो सौ रूपया हो। यदि चार रसगुल्ले ही खाने की सामर्थ्य है तो दो सौ होने पर भी दो रूपये ही काम में आयेंगे। ऐसे ही विचार करने के लिये जितने वैराग्य की, अन्तःकरण में आसक्ति के अभाव की ज़रूरत है, बस उतने से ही काम बन जायेगा; बाकी गन्दगी पड़ी है तो देखा जायेगा, पहले ज्ञान कर लो। श्रुति में यह नहीं कहा कि दुनिया-भर का तुम विचार करो, स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक आदि में क्या है आदि सारी दुनिया का चिन्तन करो; यह सब नहीं कहा। जो तुम्हारा अनुभव है, जो

सुख-दुःख तुमको अनुभव हो रहे हैं, बस उनका विवेक करो। उसमें कृत को दूर करके, वहाँ जो तत्त्व है, उसको प्राप्त कर लो। 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' यही ब्राह्मणत्व का लक्षण है। इस प्रकार के विवेक (परीक्षण) करने से जो निर्वेद उत्पन्न होता है, उसके स्वरूप पर आगे विचार करेंगे।



परीक्षा-फल

बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय के मन्त्र का विचार कर रहे हैं। मूल मन्त्र है—

'आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत्॥'

इसमें श्रुति बतलाती है कि जब उस आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है तो फिर किस इच्छा और किसकी कामना के लिये ऐसी प्रवृत्ति करे जो संताप का कारण बने? 'यदि उसका साक्षात्कार कर लेता है', यों 'यदि' कह करके उसकी दुर्लभता का संकेत किया। उस दुर्लभता का कारण क्या है? मन के अन्दर जो विषयासक्ति है, वही कारण है। इस विषयासक्ति को दूर करने के दो साधन बतला रहे हैं, अभ्यास और वैराग्य। वैराग्य का हेतु बतलाया कि जहाँ अनुभव हो रहा है उसी की परीक्षा करनी है कि उसमें अकृत क्या है और कृत क्या है। संसार के दुःख का अनुभव हो रहा है, अतः वहीं

परीक्षा करनी है। परीक्षण से किया वैराग्य परमात्म-मार्ग की तरफ ले जाता है, दुःख से हुआ वैराग्य, पुनः प्रवृत्ति की ओर ले जाता है। वैराग्य में कारण दो होते हैं। यदि किसी चीज़ की हमें तीव्र अभिलाषा है और वह पूर्ण न हो तो हमें संसार की सब चीज़ें व्यर्थ लगने लगती हैं। पर इस वैराग्य का कारण विचार नहीं है, विवेक नहीं है, केवल दुःख-मात्र का अनुभव है। इस दुःख से मनुष्य संसार से हटता है, दूर जाता है, तपस्या करता है। तपस्या से उसमें बल आता है, वह बल यदि उसकी इच्छापूर्ति के लिये पर्याप्त हो जाता है, तो पुनः उस चीज़ की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त हो जाता है, क्योंकि जो दुःख का कारण था वह दूर हो गया। यह दुःख-जन्य वैराग्य वास्तविक वैराग्य नहीं है। विचार-जन्य वैराग्य किसी एक-आध दुःख से नहीं होता वरन् जिस-जिस चीज़ का अनुभव कर रहा है उसका ही विचार करने से होता है। विचार से, उसी अनुभव में होने वाले कृत और अकृत दोनों चीज़ों को समझ लेता है। चूँकि जहाँ अनुभव कर रहा है वहीं विचार करता है, इसलिये उसको किसी चीज़ से दूर नहीं होना पड़ता। दुःख-जन्य वैराग्य में, अपने मन का अनुभव न होने के कारण, उसको संसार से वितृष्णा होती है। उस परिस्थिति को छोड़ करके, दूसरी परिस्थिति में जाने की इच्छा होती है। यहाँ परिस्थितिं का परिवर्तन है। जहाँ परिस्थिति-परिवर्तन की इच्छा है वहाँ सुधार की इच्छा है कि 'यह परिस्थिति बदल जाये, दूसरी परिस्थिति आ जाये'। यह सुधार की दृष्टि है। सुधार संसार के अन्दर होता है, संसार से अतीत नहीं ले जा सकता। विचार करने पर परिस्थिति [illegible] नहीं

बदलना चाह रहा, परिस्थिति की वास्तविकता को समझना मात्र चाहता है।

जो-जो संसार के सुख प्रतीत होते हैं, उन्हीं की परीक्षा करके उनसे वैराग्य उपजाना है। सुख की सामग्री बड़ा मकान माना जाता है। जिसके पास ऐसा मकान न हो वह सोचता है कि ऐसी जगह जायें जहाँ खुली जगह मिले। यंह परिवर्तन की इच्छा है। जो बड़े मकान में रहते हुए उसकी परीक्षा कर उसे छोड़ना चाहता है, वह वैराग्यवान् है। सत्पुत्र वे हैं जिनकी सत् पुरुष प्रशंसा करते हैं। सामान्यत: बच्चों का जो नये युग के अनुरूप व्यवहार होता है, वह बड़ों को सहन नहीं होता। अंग्रेज़ी भाषा में इसे Generation gap अर्थात् पीढ़ियों का अन्तर कहते हैं। हर पीढी, अगली पीढी जिन परिवर्तनों को करती है, उनके साथ समझौता नहीं कर पाती। हमारे दादाजी को हमारे पिताजी के व्यवहार खटके, हमारे पिताजी को हमारे व्यवहार खटक रहे हैं, हमें अपने बेटों के व्यवहार खटक रहे हैं। इसलिये हमारी पीढ़ी के लोगों को यदि हमारे पुत्रों के व्यवहार सचमुच अच्छे लगते हैं, तो मानना पड़ेगा कि हमारे पुत्र सचमुच हमारे अनुरूप हैं। हमारी पीढ़ी में भी कुछ सत् व कुछ असत् पुरुष हैं। जैसे आजकल बड़ी उम्र वालों में भी कुछ ऐसे मिलते हैं जो 'उठाओ-खाओ' तरीके के भोज को अच्छा मानते हैं! यह कंगलों से भी गया गुजरा ढंग है, क्योंकि कंगलों को कोई परोसता है जबकि इस ढंग में कोई परोसने वाला भी नहीं होता। फिर भी असत् पुरुष प्रशंसा करते हैं। उस प्रशंसा से बच्चों की

अच्छाई व्यक्त नहीं होती वरन् सत्पुरुष जिसकी प्रशंसा करते हैं वह अच्छा सिद्ध होता है। ऐसे पुत्रों की भी परीक्षा से उन्हें छोड़ना वैराग्य है। पर्याप्त धन हो, इतना अधिक कि गिनने की भी ज़रूरत नहीं, उसकी परीक्षा कर उससे निस्पृह होना वैराग्य है। धन की कमी आदि से उससे दुःखी होकर उसे छोड़ने की इच्छा को श्रेष्ठ वैराग्य नहीं कहते। इसी प्रकार कल्याणी अर्थात् दृष्ट-अदृष्ट हित करने वाली पत्नी के प्रति परीक्षाजन्य वितृष्णा वैराग्य है। झगड़ालू आदि पत्नी से परेशान होकर छोड़ना उत्तम विरक्ति नहीं। नयी उम्र, नीरोगता आदि अनुकूल दशा में विचारजन्य जो विषयविरसता वह उपादेय वैराग्य है। इन सुखों को देख कर सामान्य जन तो अज्ञान से मूढ हो जाता है, अपने को धन्य समझने लगता है। पर इन्हीं पदार्थों को देख करके जो विवेकी है, उसको यह संसार कारागार लगता है। जिन पदार्थों से अज्ञानी धन्यता का अनुभव करता है, विवेकी इसे जेल समझता है। बन्धन समझता है। पत्नी भी एक दिन छूट जायेगी, अपने या उसके मरने से। नई उम्र भी एक दिन समाप्त हो जायेगी। पुत्र का भी वियोग हो जायेगा। मकान भी यहीं धरा रह जायेगा। संसार का कुछ भी तब काम आने वाला नहीं। संसार के सब पदार्थों में नश्वरता है। यह जो कृत और अकृत का विचार है, इस विवेक से जो वैराग्य उत्पन्न होता है उसमें, परिस्थिति बदलने वाली अर्थात् सुधार की दृष्टि नहीं है।

परिस्थितियों में स्वभाव से ही बिगाड़ है। जैसे अमचूर स्वभाव से ही खट्टा होता है ऐसे ही संसार के पदार्थों में ऐसा

नहीं है कि कुछ नश्वर हैं और बाकी नश्वर नहीं। संसार के सब पदार्थों में यह खराबी निहित है। जितने सुधार होते हैं, सब का मूल बिगाड़ है, और फल भी बिगाड़ है। कुछ बिगड़ा तब तुम सुधार रहे हो। अतः सुधार का बीज बिगाड़ है। यदि बिगड़ा न होता तो सुधारते क्यों? चूँकि बिगाड़रूप बीज से उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह सुधार भी कुछ समय के बाद फिर बिगड़ ही तो जायेगा। संसार का प्रवाह सुधार-बिगाड़ के क्रम से ही चलेगा। कोई चीज़ हमेशा के लिये सुधर गई—ऐसा कभी नहीं होगा। सुधरी थी, बिगड़ गई, फिर सुधारना है—यह सदैव होगा। यह सभी पदार्थों एवं शरीर के साथ भी है। कोई नहीं कह सकता 'मैंने ऐसी दवा से शरीर ठीक कर लिया है कि अब खराब नहीं होगा'। ऐसा नहीं हो सकता। इसमें सुधरना और बिगड़ना चलता ही रहता है। जो शरीर का हाल है वही मन का भी हाल है। किसी दिन ध्यान में अच्छा लगेगा, आनन्द आयेगा, लगेगा भगवान् की परम कृपा हो गई। बाद में दिन में चालीस साल पुराने मुनीम को बुरी तरह डाँटोगे। क्रोध शांत होने पर अपने को धिक्कारोगे कि 'मेरा मन कब ठीक होगा?' सुबह मन क्या था, दिन में मन क्या हो गया! सुधारोगे, बिगड़ेगा, पुनः सुधारोगे, पुनः बिगड़ेगा। शरीर की स्वतन्त्रता का मतलब है, व्यवहार कर सकना लेकिन व्यवहार करने से कुछ बिगाड़ आ जायेगा, फिर उसे दवा से ठीक कर लेना पड़ेगा। यहाँ मन से व्यवहार करोगे तो मन में बिगाड़ आयेगा, उसका फिर सुधार करोगे। जो चीज़ जितनी चंचल होती है, वह जल्दी बिगड़ती भी है, सुधरती भी है। शरीर को बिगड़ने में थोड़ा ज़्यादा समय

लगता है, मन को बिगड़ने में कम समय लगता है। शरीर को सुधरने में भी ज़्यादा समय लगता है, मन को सुधरने में कम समय लगता है। दिन भर में मन कितनी बार बिगड़ा—इसका ध्यान रहता है, पर यह भी ध्यान रख लो कि हर बार हमने सुधार भी तो लिया। जो शरीर मन का हाल है वही सब व्यवहारों में परिवार आदि का हाल है। परिवार में भी बिगाड़-सुधार-बिगाड़ आता रहेगा। कुछ भी सदैव एक जैसा नहीं रह सकता। यही स्थिति समाज की है, उसमें भी बिगाड़-सुधार-बिगाड़ का क्रम चलता रहता है। वही स्थिति राज्य की है। प्रजातंत्र में सुधार कम से कम मारकाट से हो जाता है। पहले राज्य बदलते थे तो नरसंहार ज़्यादा होता था। हज़ारों मरते थे तब जोधपुर, जयपुर का राज्य बदलता था। उस पैमाने से आजकल प्रजातंत्र में मारकाट नहीं है। यह सुधार हुआ तो और अनेक बिगाड़ भी हो गये।

यदि नहीं बिगड़ने वाले को पकड़ना चाहते हो तो उस अकृत को पकड़ना पड़ेगा, जो न बिगड़ता है न सुधरता है। जिस चीज़ का अनुभव हो रहा है, उसमें कर्म के द्वारा, सुधार-बिगाड़ के द्वारा जो कृत वाला हिस्सा है उसको देखो। उस कृत में ही जो अकृत है, वह भी देखना है। परिस्थिति को बदलना नहीं है। जो परिस्थिति जैसी है, उसे देख कर उसमें जो अकृत वाला हिस्सा है, जो नहीं बदलने वाला हिस्सा है, उसको भी साथ में देखना है। वह अकृत होने से ही किसी कर्म के द्वारा, प्राप्त हो नहीं सकता 'नास्ति अकृतः कृतेन'। वह अकृत

सच्चिदानन्द रूप है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप कहाँ मिलता है? प्राणिमात्र चाहता है 'हमें वह आनन्द मिले, जो हमेशा रहे।' यह जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। चूँकि हम कभी मरना नहीं चाहते इसलिये चीज़ भी ऐसी चाहते हैं जो कभी मरे नहीं। कभी किसी चीज़ के बारे में अज्ञान रखना नहीं चाहते। हर बात को जानना चाहते हैं। शास्त्रों ने कहा कि शूद्र वेद का अध्ययन नहीं कर सकता। लोग पूछते हैं 'शूद्रों को यह अधिकार क्यों नहीं?' जिन पुराण-महाभारत आदि में अधिकार है उन्हें न पढ़ने वाले भी वेद में अधिकार माँगते हैं अर्थात् उसे जानना चाहते हैं। मनुष्य में ज्ञान की इच्छा निहित है। इसी प्रकार आनन्द की इच्छा, सुख की इच्छा है। एक क्षण भी ऐसा नहीं चाहता जब सुख या सुख के साधन से हीन हो। इसीलिये एकादशी के दिन भोज़न नहीं करता। पर इसलिये कि एकादशी का व्रत सुख का साधन है, उससे स्वर्ग प्राप्त होगा। यदि कहें कि एकादशी से नरक प्राप्त होगा, तो व्रत नहीं करोगे। अभी हो या आगे, सुख ही होना चाहिये। जो चीज़ सच्चिदानन्दरूप है, जिसकी हमें अभिलाषा है, वेद ने उसी का नाम 'ब्रह्म' कह दिया।

उसे ढूँढें कहाँ, वह कहाँ मिलता है?

'अहम् अस्मि सदा भामि नाहमस्मिकदाऽप्रियः ।
ब्रह्मैवाहमतः सिद्धं सच्चिदानंदलक्षणम् ।।'

वह हमेशा है, उसका कभी 'नहीं है' अनुभव होता ही नहीं। अन्य सब चीज़ों का कभी अनुभव होता है 'नहीं है'— घड़ा नहीं है, कपड़ा नहीं है आदि। क्या कभी यह भी अनुभव

हुआ 'मैं नहीं हूँ'? मैं के साथ सदैव 'हूँ' का ही अनुभव होता है। कोई वैद्य से पूछे 'बताइये कि मैं ज़िन्दा हूँ या मरा हूँ?' तो वैद्य कहेगा 'होश में तो हो या नहीं? तुम ज़िन्दा ही हो तभी पूछ पा रहे हो।' इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। मैं नहीं हूँ—यह भान कभी होता नहीं। और सत् जैसे मेरा रूप है, वैसे ज्ञान भी मेरा रूप है। मैं हूँ, और मुझे पता नहीं—ऐसा कभी होता नहीं। सदा मेरा भान होता ही रहता है। जब मैं का अनुभव करता है, तो 'मैं हूँ' रूप से करता है, और मैं का अनुभव सदा होता ही है। जैसे जहाँ घड़ा होगा वहाँ मिट्टी है ही, घड़े की वास्तविकता मिट्टी ही है। गहने की वास्तविकता सोना ही है। इसी प्रकार मैं बिना ज्ञान स्वरूपता के एक क्षण भी नहीं रहता। अतः मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ। सत् और चित् ये दो ब्रह्मलक्षण मैं में मिल गये। रात-दिन हम सत्-चित् को ढूँढ रहे हैं, लेकिन वही हाल है जो लोकोक्ति है, 'बगल में बच्चा नगर ढिंढोंरा!' बच्चा गोद में है, पर भूल गया कि गोद में है। इसी प्रकार सद्रूप और चिद्रूप को हम ढूँढ रहे हैं, पर है कहाँ पर? मैं में। तीसरी चीज़ है आनन्द, सुख। जो चीज़ आनन्द देती है, उससे प्रेम होता है, अन्य में नहीं। जिस चीज़ से प्रेम होगा वह आनन्द देने वाली होगी। ऐसी कौन-सी चीज़ है जिससे हमेशा प्रेम बना रहता है? मैं के साथ सदैव प्रेम है। कोई भी चीज़ तब अच्छी लगती है, जब वह *मेरे लिये* अच्छी होती है। एक बार हमसे एक पत्नी ने कहा 'मेरे पति मुझे गाली देते हैं, डाँटते हैं।' हमें आश्चर्य हुआ। क्योंकि औरों से उस व्यक्ति की हमने प्रशंसा सुन रक्खी थी। उनके मित्रों ने कहा, 'सबसे इनका व्यवहार ठीक है

पर पत्नी से व्यवहार खराब है।' उस व्यक्ति ने कहा 'पत्नी का काम करने का तरीका ठीक नहीं है।' अब विचार करो, वह व्यक्ति सबको प्रिय है, ठीक व्यवहार करता है, परन्तु पत्नी के लिये वह प्रिय नहीं है। उसके सुख का कारण नहीं है। अतः कोई भी व्यक्ति मेरे सुख का कारण नहीं तो मुझे प्रिय नहीं लगेगा। मेरे लिये सुखद होगा तभी प्रिय है। कोई प्रश्न करे 'तुम अपने लिये सुख चाहते क्यों हो?' तो कहोगे कि यह स्वाभाविक है, सहज है। बाकी सब चीज़ें प्रिय होती हैं मुझे जब सुख देवें। लेकिन मैं तो अपने आपके लिये प्रिय हूँ। इसमें प्रियरूपता हमेशा बनी रहती है, इसलिये सब चीज़ें इसके लिये चाहिये। इसका मतलब है कि यह आनन्द स्वरूप है, तभी यह प्रिय है। आनन्द का लक्षण हुआ जो प्रिय हो। जो चीज़ प्रियता का आश्रय होती है वही सुख देती है। एक क्षण भी ऐसा नहीं जब मैं, मुझे प्रिय नहीं। अतः आनन्द मेरा स्वरूप है। सच्चिदानन्द लक्षण वाला जो ब्रह्म मैं ढूँढ रहा था, वह मैं खुद ही निकला।

इसलिये वेद ने कहा, जहाँ तुमको अनुभव हो रहा है, वहीं पता लगाओ। न यह सच्चिदानन्द ब्रह्म केदारनाथ में, न रामेश्वर में मिलेगा। जहाँ, जिस परिस्थिति में हो, वहीं उसी समय देखना, परीक्षण करना शुरु कर दो। सुख का अनुभव है तो, दुःख का अनुभव है तो, रोग का या शोक का अनुभव है तो, जिस समय जिसका अनुभव होवे वहीं विचार करो। परीक्षण करके देखो, इसमें कौन-सी चीज़ 'कृत' कर्म से आने-जाने वाली है, क्रिया से उत्पन्न हुई है; कौन-सी चीज़ सहज है,

स्वाभाविक है। इसको देखते हुये अपने आप ही पता लगता जाता है कि प्रत्येक अनुभव में मैं विद्यमान हूँ, वह मैं ही सच्चिदानन्द-लक्षण ब्रह्म है। अतः एक क्षण भी ऐसा नहीं जब परीक्षक ब्रह्म से अलग हो। हम लाख प्रयत्न करें कि हम दुःखी हो जायें तो भी हो नहीं सकते। लोग कहते हैं कि हमारा दुःख जाता नहीं, पर स्थिति यह है कि हमारा सुख कभी नहीं जा सकता। दुःख तो चला ही जायेगा। दुःख के साथ हमारा सम्बन्ध काल्पनिक है और आनन्द के साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है, हमारा स्वरूप है। हमें कोई सुधार नहीं करना है, परिवर्तन नहीं करना है, सदा रहने वाले अपने अहम् तत्त्व को समझना है।

जब समझ लिया कि सच्चिदानन्दरूप मैं हूँ तब 'ब्राह्मणो निर्वेदम् आयात्' जो असत्-जड-दुःख-रूप है, उससे अपने आप ही निर्वेद, वैराग्य हो जाता है। इस असत्-जड-दुःख-रूप से निर्वेद होना ही बीज बोता है उसका जहाँ पर इच्छाओं और कामनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है। परीक्षा करके निश्चय करना है कि मैं सच्चिदानन्द-लक्षण ब्रह्म हूँ, बाकी सब असत्-जड-दुःख-रूप कृत कर्म के द्वारा आते हैं, कृत कर्म के द्वारा बदलते हैं। बिगड़ते हैं फिर सुधरते हैं। शरीर मन से लेकर समाज राष्ट्र तक सब चीज़ें सुधरती-बिगड़ती रहती हैं। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म एकस्वरूप रहता है। इस सच्चिदानन्द ब्रह्म को एक बार समझ लिया, तब इसको कभी भूल नहीं सकते। क्योंकि कोई अनुभव ऐसा नहीं, जहाँ मैं नहीं। मैं को जब हमने सच्चिदानन्द रूप से पहचान लिया, तो कोई अनुभव ऐसा नहीं, जहाँ मैं आनन्दरूप नहीं है। यहाँ तक परमार्थसार में आदिशेष

लिखते हैं कि कष्ट से विलाप करता, भूमि के ऊपर लोटता-तड़पता हुआ दीख रहा है, उस समय में भी उसका 'मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ' यह अनुभव कभी टलता नहीं। वैसा का वैसा बना रहता है। यह जो परीक्षा के द्वारा स्थिति प्राप्त करनी है, इसी को यहाँ पर दुर्लभ बतलाया। एक बार यह परीक्षण हो गया, तो यह सुलभ हो जाता है।

●

कर्त्तव्य

बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्र का विचार चल रहा है। मन्त्र है—

'आत्मानं चेद् विजानीयादहमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥'

भगवती श्रुति बतलाती है, यदि अपने अन्दर स्थित परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, तो किसी भी इच्छा अथवा किसी भी कामना से, वह प्रवृत्ति नहीं करता जो शरीर, मन को अनुसंतप्त करे, क्लेश का, पीडा का कारण बने। उस परमात्मतत्त्व के दर्शन करने के लिये अन्तःकरण, मन साधन है। वह परमात्मा अत्यन्त सन्निहित है, नज़दीक है, इतना पास और कुछ भी नहीं है। वह अपना वास्तविक स्वरूप है। कोई पूछे कि घड़े से मिट्टी कितनी दूर है? तो क्या उत्तर दिया जाये! क्योंकि घड़े की वास्तविकता अर्थात् स्वरूप ही मिट्टी है। इसी

प्रकार कपड़ा रूई मात्र है, किंचित् भेद नहीं है। इसी प्रकार समुद्र और उसकी लहर है। यही स्थिति हमारी है। सोचते हैं, 'वह परमात्मा हमको कब मिलेगा?' जैसे लहर की सच्चाई समुद्र ही है, लहर कुछ भी नहीं है इसी प्रकार हमारा वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। ऐसा होने पर भी हम अपने आपको, वास्तविकता को जानते नहीं हैं। घड़े की वास्तविकता मिट्टी है, कपड़े की वास्तविकता धागा या रूई है, समुद्र ही वास्तव में लहर की एकमात्र सत्यता है। यदि लहर, कपड़ा, घड़ा, अपनी वास्तविकता को नहीं जानता, तब उनका होना, नहीं होने जैसा ही है। छान्दोग्योपनिषद् एक दृष्टान्त देती है : किसी आदमी के पुरुखों का खेत है। वह सेठ से कहता है 'मुझे धन चाहिये, मेरा खेत गिरवी रख लो। लड़की की शादी है, धन दे दो।' दोनों के कुटुम्ब मित्रता वाले थे। सेठ ने कहा 'खेत गिरवी रखने की ज़रूरत नहीं, तू तो करोड़पति है। तुम्हारे खेत में पुराना धन गड़ा है।' मनुष्य की मानसिक स्थिति यह है कि वह खुला पाँच रूपया कम ज़रूरत के लिए भी खर्च कर देगा पर पाँच की चीज़ के लिये हज़ार रूपये का नोट तुड़वा कर खर्च नहीं करना चाहेगा। बैंक से लाकर खर्च नहीं करना चाहेगा। गहना बेच कर तो खर्च अतिविशिष्ट स्थिति में ही करेगा। इसीलिये पूर्वज रुपये को ज़मीन में गाड़ देते थे, ताकि जल्दी निकाल कर खर्च न होवे। सेठ को खेत में गड़े धन का मालूम था। सेठ उसके साथ रात में गया और धन खोदने पर मिल गया।

इसलिये उपनषिद् कहती है—

'यथाऽपि हिरण्यनिधिं निहितम् अक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः।' (छा. ८.३.२)

रोज़ खोदते थे लेकिन ऊपर से, क्योंकि 'अक्षेत्रज्ञाः' धन खेत में गड़ा है—इस बात को नहीं जान रहे थे, यद्यपि खेत के मालिक थे। करोड़पति हैं, पर पता न होने से नहीं हैं। यही हाल श्रुति कहती है, जीव का है। इसके पास आनन्द की खान है। सुख की खान अन्दर है। इसकी वास्तविकता आनन्दमय है। जैसे घड़े में मिट्टी के सिवाय कुछ नहीं, जैसे कपड़े में रूई के सिवाय कुछ नहीं है, जिस प्रकार लहर में जल ही जल है, वैसे ही तुम्हारे वास्तविक स्वरूप में सुख ही सुख है, इसके सिवाय कुछ नहीं। 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'। आनन्द तुम्हारा स्वरूप है। अपने इस स्वरूप को न जानने के कारण रात-दिन आनन्द को ढूँढ रहे हो। इधर-उधर से सुख की मात्राओं की इच्छा करते रहते हो कि रसगुल्ला खा के, नौकरी में तरक्की से, सोने का अच्छा भाव मिलने से सुख मिल जाये। इन सुखों की रात-दिन आशा कर रहे हो, परेशान हो। पर अपने अन्दर गड़े सुख का ज्ञान नहीं है। खेती से गुज़ारा करके प्रसन्न था। खेत में कभी अनाज ज़्यादा हो गया तो सुखी हो गया, कम हो गया तो दुःखी हो गया। कभी-न-कभी जीवन में ऐसा काल आता है, जब लगता है कि इन छोटे सुखों से गुज़ारा हो नहीं रहा, कोई बड़ा सुख मिले। जीव इसके लिये परमेश्वर की तरफ जाता है। परमेश्वर का पता वेदादि सच्छास्त्रों से लगता है। तब जीव कहता है 'भगवन्! मेरा सब

कुछ ले लो पर बदले में सुख दे दो, वास्तविक सुख दे दो, धन-पुत्रादि नहीं।' परमात्मा-जीव का सम्बन्ध तो अनादि काल से चला आया है। परमात्मा कहता है 'तुम सुख चाहते हो, वह तो तुम्हारे ही पास है, तुम्हारा स्वरूप ही सुख है। आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप है।' पहले तो जीव को विश्वास नहीं होता क्योंकि उसने अपने आप को अज्ञान में रख छोड़ा है। यद्यपि उसका कण-कण आनन्दस्वरूप है पर अज्ञान के कारण उसका कोई लाभ उठा नहीं पाता। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं, जब तक इस अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, तब तक काम बनेगा नहीं। अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही होता है। अन्धकार का विरोधी प्रकाश ही होता है। जप करने से अन्धकार नहीं जायेगा, प्रकाश नहीं होगा। एक पैर पर खड़ा होने से, तपस्या से अन्धकार क्या चला जायेगा? अन्धकार को दूर प्रकाश ही करेगा, न जप, न तप करेगा, न स्वाध्याय, न दान करेगा। उसे दूर भगवान् की पूजा भी नहीं करेगी। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं 'कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनम् अथवा दानम्'। चाहे तीर्थ-यात्रा कर लो, व्रत कर लो, दान कर लो, कुछ भी करो, अज्ञान को दूर करने वाला तो ज्ञान ही है।

अज्ञान को कौन-सा ज्ञान दूर करेगा? लोग कहते हैं, परमात्मा ज्ञानरूप ही है, वह अपने आप अज्ञान को समाप्त कर देगा! किन्तु ज्ञानस्वरूप परमात्मा अज्ञान को दूर नहीं करता, वृत्ति में आरूढ ही वह ज्ञान, वृत्तिज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करता है। यदि ज्ञानस्वरूप परमात्मा अज्ञान को नष्ट करता, तो अनादि काल से ज्ञानस्वरूप परमात्मा है ही, उसने नष्ट कर ही दिया

होता! ज्ञानस्वरूप परमात्मा अज्ञान को नष्ट नहीं करता। जब तुम्हारे मन की वृत्ति परमात्माकार बनती है, उस वृत्ति में जो ज्ञान होता है वह अज्ञान को नष्ट करता है। लकड़ी में अग्नि है। तुम लकड़ियाँ जमा करके तापने के लिये माघ मास में बैठ जाओ तो क्या ठंड नहीं लगेगी? चाहे चार मन लकड़ियाँ हों, ठंड लगेगी ही। लकड़ी में भरी अग्नि ताप नहीं दे सकती। यदि तुमने माचिस जला कर, दस सेर लकड़ी को ही उद्दीप्त कर लिया तो लकड़ी में से ही निकलती वह आग तुम्हारी ठंड दूर करती है, प्रज्ज्वलित होने पर ही वह अग्नि लाभ देती है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्मा अज्ञान को नष्ट करता नहीं, परन्तु यदि वह ज्ञान मन की वृत्ति के अन्दर प्रज्ज्वलित हो जाता है तो काम बन जाता है। ऐसे ही सूर्य रोज़ ही प्रकाश करता है। कोई चीज़ उससे जलेगी नहीं। यदि सूर्य के सामने सूर्यकान्तमणि रख दो, आतशी शीशा रख दो, उन्नतोदर काँच रख दो तो वही सूर्य धागा, सूत, घास को जला देगा। यद्यपि सूर्य सारी पृथ्वी पर प्रकाश करता है, तथापि कुछ नहीं जला सकता, पर छोटे-से काँच में पड़कर जला देगा। यह कुतर्क है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, कभी भी अज्ञान को हटा देगा, हमारे इतनी-सी वृत्ति बनाने से क्या होगा? क्योंकि वस्तुस्थिति है कि मन में वृत्ति बनाने से *वही परमात्मा* जलायेगा। जलाने वाला परमात्मा ही है। तुम्हारी दियासलाई दिखाने *से* लकड़ी से आग नहीं निकली; लकड़ी में आग है, इसलिये निकली। इसलिये मन की वृत्ति बनी, तब ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं सोचना; ज्ञान इसलिये हुआ कि परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। उस वृत्ति में से, जो ज्ञान का

प्रकाश जाता है, वही अज्ञान को नष्ट कर सकेगा।अज्ञान अर्थात् इस क्षेत्र की सच्चाई को न जानने के कारण, अपनी आनन्दरूपता को न जानने के कारण ही हम सुख के पीछे भटक रहे हैं।

परमेश्वरस्वरूप ही वेद है। इसी बृहदारण्यक के अन्त में जहाँ वंश परम्परा आई है, वहाँ अन्तिम गुरु बतलाया है, 'स्वयंभु ब्रह्मणे नमः'। वेद परमात्मा का स्वरूप है, विग्रह है। वेदस्वरूप परमात्मा हमको बतलाता है, 'तुम आनन्दस्वरूप हो', परन्तु तुम जानते नहीं हो, मन के द्वारा वृत्ति नहीं बनाई इसलिये। मन को समय ही नहीं मिला इसके लिये! जैसे वह उसी खेत में रात-दिन खेती करता था, वैसे ही हम लोग जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों में भटक रहे हैं। परमात्मबोध के लिये समय ही नहीं है। जाग्रत् में भटकते हैं, वहाँ इन्द्रियों से विषयों को देखते हैं। निद्रा में स्वप्न में भटकने लगते हैं। गहरी नींद में यद्यपि विषयों में नहीं भटकते तथापि अज्ञान में, तम में डूबे रहते हैं। इन तीनों में आते-जाते हमें फुरसत ही नहीं है। जाग्रत् में जाग्रत् के व्यवहार सिर पर हैं। बरतन माँजने हैं, दाल बनानी है, भोजन परोसना है, दुकान जाना है, एक के बाद एक वृत्तियों का ऐसा प्रवाह है कि समय ही नहीं मिलता। मन ने परमात्माकार वृत्ति नहीं बनाई क्योंकि मन को वृत्ति बनाने में कभी लगाया ही नहीं। वेद कहता है, 'तुमने सारे तो धन्धे कर लिये, हर जन्म में। अब इधर भी देखो, शायद सुख की प्राप्ति हो जाये।' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'। यह वेद का उद्घोष है। जन्म-जन्मान्तर से तो तुमने सांसारिक सारे कर्त्तव्य निभाये हैं,

पर परमात्मा के दर्शन का कर्त्तव्य कभी नहीं निभाया। यह भी तुम्हारा ही कर्त्तव्य है। वेद ने विलक्षण भाषा का प्रयोग किया है 'द्रष्टव्यः'-शब्द में तव्यत्-प्रत्यय है अर्थात् प्रत्यगात्मा को देखना *चाहिये*। श्रुति यही कह रही है कि आत्मदर्शन तुम्हारा कर्त्तव्य है। मनुष्य आज तक अनात्मा के कर्तव्यों के पीछे परमात्मा को भूल गया है। अनात्म विषयों में मनुष्य कितना भी चला जाये, कोई उसे कर्त्तव्य की याद नहीं दिलाता। जो बहू पूजा पर बैठी है, सास उससे काम को कहेगी, सोने वाली दूसरी बहू को नहीं। एक लड़का बम्बई में कमाई करता है। दूसरा मारवाड़ में ही मन्दिर में पूजादि भगवान् के काम में लगा है। बाप के बीमार होने पर, कोई बम्बई वाले को नहीं कहेगा कि वह फ़र्ज़ छोड़ कर बैठा है, क्योंकि कमाई कर रहा है। दूसरे को ही कहेंगे कि पूजा में व्यर्थ समय गवाँ रहा है, बाप की सेवा क्यों नहीं करता! अर्थात् पूजा व्यर्थ है, धन कमाना धर्म है। बाकी सब कर्त्तव्य बताये गये हैं, अतः वेद इस परमावश्यक कार्य के लिये भी कह देता है, कि आत्मदर्शन ही कर्त्तव्य है। इसको जब कर्त्तव्य मानोगे, तब मन इधर लगेगा।

अब तक विषयासक्ति से मन भरा है। उसे दूर करना ज़रूरी है। इसको दूर करने के लिये नाद आदि के सहारे परमात्मा पर चित्त स्थिर करना चाहिये। उससे मन विषयासक्ति से हट कर अन्दर के आनन्द की तरफ जाता है। तब आयेगा वैराग्य, वह भी तुम्हारा कर्त्तव्य है। आत्मदर्शन मायने अनात्मा के दर्शन को हटाना। अनात्मदर्शन को छोड़ने पर मनुष्य वास्तविक कर्त्तव्य की तरफ जायेगा, परमात्म-प्राप्ति की तरफ़

जायेगा। जब इसे कर्त्तव्य मान कर प्रवृत्त होगा तभी लगेगा। जैसे घास जलाने के लिये सूर्यकान्तमणि और सूर्य चाहिये, वैसे परमेश्वर की प्राप्ति के लिये एक केवल तुम्हारा मन चाहिये और परमेश्वर चाहिये। दोनों तुम्हारे पास हैं। दोनों को बस एकत्रित करना आवश्यक है। तुम्हारे पास मन भी है, परमात्मा भी है, केवल दोनों को मिलाकर परमात्माकार वृत्ति वाला बनाना है। यह कैसे बनाया जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।



स्थिति

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्र की व्याख्या चल रही है। परमात्म तत्त्व का जब अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया जाता है, तब क्या इच्छा करके और किसकी कामना से, ऐसी प्रवृत्ति करे कि संताप का कारण बने। इस आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये किस वित्त की आवश्यकता है? ब्राह्मण के लिये अर्थात् परमात्म से एक होने के लिये, जो प्रवृत्त है, उसके लिये ऐसा धन नहीं है, जैसा एकता, समता, सत्यता और शील। पाँचवीं चीज़ है स्थिति। स्थिति अर्थात् जहाँ कुछ चीज़ रहती है। जो जिसका आयतन होता है वही उसकी स्थिति होती है। चेतन और जड में कौन किसकी स्थिति है—यह समझना ज़रूरी है। हमने अभी जड को तो आयतन माना है, और चेतन को उसमें स्थित रहने वाला समझा है। इसमें रहता कौन है? चेतन शरीर मन इत्यादि जो संघात है, उसमें चेतन

रहता है। वास्तविक स्थिति इससे विपरीत है! इसी बृहदारण्यक उपनिषद् के एक अध्याय पूर्व में इस बात का विस्तृत विचार आया है। याज्ञवल्क्य ऋषि ब्रह्म के विषय में सबसे अधिक अनुभव वाले थे। परन्तु वे थे मिथिला की तरफ के। अधिकतर कुरुपांचाल देश में रहने वाले ब्राह्मण ब्रह्मविद्या के अनुभवी थे। कुरुदेश कुरुक्षेत्र के आस-पास का है। पंचाल देश कुछ पूर्व की ओर का गंगा-जमुना के बीच का क्षेत्र है। उधर लोगों में ब्रह्म-विद्या का बड़ा प्रसार था। अतः उधर के लोगों को अन्य जगह इस विद्या की प्राप्ति हो सकती है, इस विषय में सन्देह रहता था। श्रुति बतलाना चाहती है कि ब्रह्मविद्या किसी देश की विशेषता नहीं हुआ करती। याज्ञवल्क्य ऋषि जनक की सभा में आये थे। जनक ने कहा, 'जो सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी हो उसके लिये बड़ा पुरस्कार है।' हज़ार गायें जिनके सीगों पर सोना मढ़ा था और सबके गले में सोने की माला थी एवं खुरों पर चाँदी मढ़ी थी—यह पुरस्कार था। यह उसके लिये था जो ब्रह्म के विषय में सबसे अधिक अनुभव रखता हो। जब कोई खुद को सबसे बड़ा कहने को तैयार न हुआ तब याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से अति-आत्मविश्वास से कहा, 'ये गायें तुम ले चलो।' जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया उसके मन में यह कभी सन्देह रहता ही नहीं कि मेरे ज्ञान में कहीं कुछ त्रुटि है। लोग पूछते हैं, 'आत्मज्ञान हुआ इसका पता कैसे लगे?' जैसे बच्चा माँ से पूछे कि कैसे पता लगे कि भोजन से पेट भर गया! स्वयं ही आगे नहीं खाया जायेगा। इसी प्रकार हृदय में उस परम तृप्ति को प्राप्त करने पर किसी कमी का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसी

आत्मविश्वास से याज्ञवल्क्य ने गायों को ले जाने के लिये शिष्य को कहा। वहाँ उपस्थित गार्गी नाम की एक स्त्री को परम ज्ञान का अनुभव था। उसने विवाह नहीं किया था। वचक्नु ऋषि की पुत्री थी। बाकी सभी विद्वानों के बाद, गार्गी ने याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न किये, उनके उत्तर के पश्चात् सभी ने उनको नमस्कार करना स्वीकार किया। स्त्री होने पर भी गार्गी का ज्ञान परम श्रेष्ठ था। गार्गी ने याज्ञवल्क्य को नमस्कार किया।

जनक का जो पुरोहित शाकल्य था, उससे यह सहन नहीं हुआ। उसने 'स्थिति' विषयक प्रश्न किया। परमेश्वर और आत्मा की एकता को अभिव्यक्त करने के लिये स्थिति किस प्रकार की होती है, कैसी होती है यह प्रसंग था। आठ भागों में उसने प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने निरूपण किया कि स्थिति परमात्मा है और स्थित अनात्मा है। हमको लगता है अनात्मा, शरीर-इन्द्रियादि में आत्मा है। अपने को लगता है 'मैं शरीर में हूँ। मैं स्थित हूँ और शरीर स्थिति है। वास्तविकता है, मैं स्थिति हूँ, और शरीर स्थित है। मेरे में शरीर स्थित है, मैं शरीर में स्थित नहीं। शाकल्य कहता है, यह पृथ्वी आयतन है। किन्तु पार्थिव शरीर को देखने वाला कौन है? अग्नि है। इस शरीर को स्थित रखने वाली चीज़ क्या है? अग्नि है। जब तक शरीर में गर्मी है तब तक यह शरीर है। अन्यथा यह शव हो जायेगा। शरीर को स्थित रखने वाला कौन? मन के द्वारा संकल्प करने वाला। यही इस पार्थिव देह का अभिमानी है। मन से, संकल्प विकल्प करने वाला, अग्नि ही इसका लोक और अग्नि के द्वारा ही यह प्रकट

होता है। किस ढंग से यह अनुभव में आता है? अग्नि के ढंग से। मनुष्य जीवित है या नहीं—हाथ लगाकर उसकी गर्मी से ही निर्णय करते हैं। इस प्रकार इन कार्यकरण-संघात का जो अभिमानी, संकल्प करने वाला, इसके साथ तादात्म्य करने वाला, वही यह पुरुष है। यही इसका परम आयतन है, परम आश्रय है। यह संकल्प करने वाला आश्रय है, अर्थात् जीवात्मा उसका आयतन है, आश्रय है। शरीर इत्यादि सब इसमें स्थित है। माँ से जो उत्पन्न होता है, मांस और खून, यह तो इसके क्षेत्र की जगह। और पिता से जो उत्पन्न होने वाले हड्डी, मज्जा और शुक्र—ये बीज़ की जगह हैं। यह पार्थिव शरीर इस क्षेत्र और बीज़ से पैदा होता है। इस प्रकार पृथ्वी ही इसका आयतन है, अग्नि ही इसका लोक है, पुरुष शरीर है, और अन्नरस (उससे बना माता का रज) इसका देव है। जिससे निष्पन्न होता है उसी को देव कहते हैं। जो चीज़ जिससे बनती है वह उसका देव है। चूँकि यह पार्थिव शरीर माता के रज से बनता है, अतः वही उसका देवता है। शाकल्य ने उत्तर पाकर आगे प्रश्न किया कि वह कौन पुरुष है? याज्ञवल्क्य ने कहा 'उस पुरुष को मैं जानता हूँ, वह वही है जिसने कार्यकरण-संघात में प्रवेश किया है, उसी में यह स्थित है। पर उसके और अंश हैं वे पूछो।' शाकल्य ने समझा कि याज्ञवल्क्य वस्तुतः जानकार हैं। यह पहली 'स्थिति' का स्वरूप है। कार्यकरणसंघात के अन्दर आत्मरूप से स्थित है। पृथ्वी इसका आयतन, अग्नि इसका लोक, पुरुष शरीर और रज देवता है। यही इसका स्वरूप है।

आगे पूछा, काम जिसका आयतन है, हृदय जिसका लोक है, मन के द्वारा जिसका संकल्प आदि किया जाता है, वह कौन है? कामना की जो स्थिति है, उसके विषय में प्रश्न है। जो मनुष्य की कामनायें हैं, वे उसकी 'स्थिति' हैं। कामना का अनुभव हृदय से होता है। मन द्वारा उसका संकल्प है, वही उसकी ज्योति है। बिना मन के कुछ भी प्रकट होता नहीं।' चाहे शरीर आदि में अभिमान हो या अन्य कहीं, सबमें मन तो एक जैसा ही रहेगा। मन के हिसाब से ही सब कार्य होता है। मन के संकल्प के बिना जाग्रत् का कोई व्यवहार सम्भव नहीं है। इस कामना और सारे संघात का जो अभिमानी है वही इसका परम आश्रय है। पहले शरीर का अभिमानी परम आश्रय था, यहाँ कार्यकरणसंघात में होने वाला काम उसका अभिमानी है। स्त्री ही उसकी देवता है, इसके द्वारा ही काम जगता है। जैसे पार्थिव शरीर स्त्री-रज से पैदा होता है तो रज को देवता बतलाया, इस प्रकार कामना की देवता स्त्रियाँ हैं।

शाकल्य ने कहा, काला-पीला-हरा रंग आयतन (स्थिति) है, आँख लोक है, देखने वाली है, ज्योति सब जगह मन है ही, मन के बिना अभिमान होता ही नहीं। जिसको अभिमानपूर्वक यह देखता है, यही इसका आश्रय है। याज्ञवल्क्यने बताया, जो पार्थिव शरीर का आश्रय, जो काम का आश्रय वही रूपादि का आश्रय आदित्य उपाधि से है। श्रुति ने यहाँ कहा है कि सत्य ही देवता है। जो अधिदैव विराट् पुरुष का चक्षु है, उससे ही आदित्य, सूर्य उत्पन्न होता है। सूर्य ही सारे रंगों को प्रकट करने का आश्रय है। उसी के प्रकाश में ही सच्चा

रंग देखा जा सकता है। पीले रंग की रोशनी लगाकर देखो तो वस्तु अन्य तरह की दीखती है। हरे रंग की लगा कर देखो तो अन्य रंग की दीखती है। प्रश्न होता है कि किसी चीज़ का सच्चा रंग कौन-सा है? श्रुति ने अन्तर बता दिया कि सच्चा रंग वह है जो सूर्य से उत्पन्न होता है। वही उसका सच्चा रंग है। अध्यात्म अधिदैव से ही उत्पन्न होता है। इसलिये रूपमात्र का अभिमानी सूर्य पुरुष का अवच्छेदक है।

शाकल्य ने फिर पूछा, आकाश किसका आयतन है? आकाश में कौन रहता है, आकाश में किसकी स्थिति है? कान के द्वारा आकाश के अन्दर रहने वाले शब्द को सुना जाता है, अतः कान ही उसका लोक है, प्रकट करने वाला है। मन ही संकल्प करने वाला है। जो उसका अभिमान करने वाला है, वही उसका आश्रय है, परम आयतन है, दिशा ही देवता है। क्योंकि सुनने के समय विशेषरूप से दिशा ही प्रकट होती है। जैसे ही शब्द सुनते हो तुमको पता लग जाता है कि आवाज़ सामने से या पीछे से आ रही है। दिशा के द्वारा ही यह सम्पन्न होता है, इसलिये वही देवता है। आगे उसने पूछा, अन्धकार जिसका आयतन है, अज्ञानरूप अन्धकार जिसका आयतन है, हृदय ही जिसका लोक है, क्योंकि अज्ञान को हृदय ही जानता है। आकाश में रहने वाले शब्द को प्रकट करने वाला कान, रूप को प्रकट करने वाली आँख, शरीर में जीवन को प्रकट करने वाली अग्नि, परन्तु उस अज्ञान रूपी अन्धकार को कौन प्रकट करता है? उसको प्रकट करने वाला हृदय ही है। हृदय में ही

इसका पता लगता है। यह समझना बहुत ज़रूरी है। अज्ञान और कामना हृदय से समझी जाती हैं। इसलिये इनका अभाव भी हृदय से ही समझा जायेगा। जिस साधन से जिस चीज़ का पता लगता है, उसी साधन से उस चीज़ के अभाव का पता लगता है। आँख से घड़ा दीखता है, तो घड़ा नहीं है—यह बात भी आँख से ही दीखेगी। कान से पता चलता है कि यहाँ आवाज़ है, कान से ही पता लगेगा कि यहाँ आवाज़ नहीं है। इसी प्रकार अज्ञान और कामना का पता हृदय से लगता है, तो अज्ञान या कामना नहीं है इसका भी पता हृदय से ही लगता है। मनुष्य को क्रिया करते देख करके हमारे मन में होता है—यह कामना से प्रवृत्त होगा। परन्तु सचमुच कामना से प्रवृत्त हुआ या नहीं, यह हृदय के द्वारा उसको ही पता है। इसी प्रकार इस विषय में मेरे को अज्ञान है, या नहीं—इसका पता मेरे ही हृदय को है। कोई कितनी भी युक्ति लगा करके सिद्ध कर दे कि 'तुम इस बात को नहीं जानते' परन्तु मैं जानता हूँ तो जानता ही हूँ। इटली के एक विद्वान् ने पृथ्वी की गतिशीलता का पता लगाया पर बाइबिल में इसके विपरीत बात लिखी है, अतः धर्माचार्यों ने उसे जेल में डाल दिया। सत्रह वर्ष तक वह जेल में रहा। अन्त में उसने माफ़ी माँग ली कि 'मैं ग़लत हूँ'। ज़ोर से पहले कहता था 'पृथ्वी गतिहीन है' फिर धीरे से बोलता था 'पर बात ग़लत है'। उसका हृदय जानता था कि बात ग़लत है। तम जिसका आयतन है, हृदय उसका लोक है। मन ही उसकी ज्योति है। उस अज्ञान में अभिमान करने वाला कौन? जो छाया में पुरुष है, वही उसका अभिमानी है। अज्ञान का अन्धकार छायामय पुरुष की तरह है।

छाया से मनुष्य का पता नहीं लगता। ऐसे ही गहरी नींद में अज्ञान पुरुष की छाया है, पर उसका भान धुँधला है। उठने पर अनुभव तो होता है 'मैं सुख से सोया', लेकिन पता नहीं लगता है कि सुख मेरा रूप है क्योंकि वह सुख छाया की तरह है, स्पष्ट नहीं है। जैसे समाधि में आनन्दरूपता जगमगाती प्रतीत होती है ऐसी सुषुप्ति में नहीं। समाधि के द्वारा जब चित्त सर्वथा साफ हो जाता है, तब मन परमात्मा में लगता है और तीव्र जगमगाता सुख होता है, किन्तु उसको वाणी से प्रकट नहीं कर सकते। वही आनन्द सुषुप्ति में भी है। पर अज्ञान के कारण छाया की तरह है, स्पष्ट भान नहीं है। मृत्यु ही उसका देवता है। मरने का कारण अज्ञान ही है। इसलिये मृत्यु ही देवता है। अज्ञानी ही मरता है, ज्ञानी कभी मरता नहीं। अज्ञान के कारण ही मृत्यु होती है।

आगे शाकल्य और सूक्ष्म प्रश्न पूछता है। रूप दो तरह के होते हैं। एक जो काला गोरा दीखता है। दूसरा जो विशेष आकार दीखते हैं। उनको भी प्रकट करने वाली आँख ही है। प्रतिबिम्ब का हेतु जो काँच इत्यादि है, वही उसका अभिमानी है। क्योंकि काँच इत्यादि प्राण के द्वारा (मेहनत से) निष्पन्न होता है। बल होने पर ही घर्षण आदि करके उसको उत्पन्न किया जाता है, इसलिये प्राण ही उसका देवता है। आगे, जल जिसका आयतन है उसके बारे में प्रश्न किया। अप् शब्द का मोटा अर्थ होता है जल, सूक्ष्म अर्थ होता है कर्म। अतः कर्म में जिसकी स्थिति है उसका प्रश्न भी है। हृदय लोक है। जैसे अज्ञान को

जानने वाला हृदय, कामना को जानने वाला हृदय, वैसे कर्म को जानने वाला हृदय। अविद्या, काम, कर्म इनको हृदय ही प्रकाशित करता है। कहोगे, कर्म तो बाहर दीखता है? परन्तु बाहर एक-जैसा कर्म होने पर भी वह कर्म सत्त्वगुणी या रजोगुणी, तमोगुणी भी हो सकता है। लोग प्रश्न पूछते हैं, आजकल बड़े यज्ञ कीर्तन होते हैं। ये जितने हो रहे हैं, यहाँ तक कि मन्दिर आदि भी जो निर्माण हो रहे हैं, उतना शायद पहले नहीं होते थे। कर्म तो हो रहे हैं। फल क्यों नहीं हो रहा? यह तो विपरीत होता दीखता है। उसका कारण है, ये कर्म दिखावे के लिये होते हैं, कर्म उत्तम हो, इसके लिये नहीं होते। ब्याह में आदमी चालीस हज़ार खर्च-कर देगा। पर ब्राह्मण जो विवाह कराने वाला है, उसे सौ रुपया दक्षिणा मिल जाये तब भी पर्याप्त है। विवाह *कर्म* में तो तुमने उतना ही खर्चा, बाकी केवल अपने गर्व को प्रदर्शन करने के लिये खर्च किया है, पंडाल एक लाख का, पंडित दक्षिणा केवल ५१/- रुपया! कर्म बहार दीख रहा है, पर उसे देखने वाला हृदय है, वह बहार से नहीं दीखता। यह जो कर्म वाला पुरुष उसका अभिमानी है, वही इसका परम आश्रय है। वरुण ही इसका देवता है। कर्म का यथोचित फल देने वाला वरुण है। ठीक-ठीक कर्म का फल मिल जाये, यह काम करने वाला वरुण है। कर्म के द्वारा ही वरुण फल देने वाला निष्पन्न होता है, वही देवता है। तो पार्थिव शरीर, कामना, आँख से ग्रहण होने वाले रुपादि को बतला दिया। कान से ग्रहण होने वाले आकाश को बतला दिया, अज्ञान अन्धकार को बतला दिया। सूर्य की रश्मि जो प्रकट

होती है दर्पण आदि में उनको बंतला दिया। कर्म को बतला दिया।

इस प्रकार सात चीज़ों के बाद अन्तिम प्रश्न करता है, पुरुष को उत्पन्न करने वाला शुक्र है; पहले कारण बतला दिया था क्षेत्ररूप से रज, उसका बीज़ कारण कौन है? शुक्र ही उसका आयतन है और हृदय ही उसको जानने वाला है। मन संकल्प वाला है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, पुत्र में जो अभिमान है वहीं उसका आश्रय है। शुक्र क्योंकि पिता से ही निष्पन्न होता है अत: पितारूपी प्रजापति ही उसका देवता है, प्रजा को उत्पन्न करने वाला। पिता ही पुत्र को निष्पन्न करता है। बीज से ही वृक्ष होता है। इस प्रकार से शरीर के दो कारण हैं। प्रारम्भ किया था माता से, समाप्त कर दिया पिता में। इन सब रूपों में जो प्रकट होने वाला है, वह एक ही है। ये सब तो स्थितियाँ हुई मनुष्य इनमें स्थित हुआ। शरीर में अभिमान, तादात्म्य कर लिया तो इनमें स्थित हुआ। परन्तु है आत्मा स्वरूप अर्थात् स्थिति, और शरीर इसमें स्थित है। इसी प्रकार कामना में यह स्थित हुआ, पर कामना वस्तुत: इसमें स्थित है। इसी तरह से रूप, आकाश, इत्यादि, जितने हैं, सबका परम आश्रय तो आत्मा है। उसकी ज्योति मन ही है। भिन्न चीज़ों के द्वारा प्रकट होने वाला वह एक ही है।

एक बार दक्षिण के राजाओं में भयंकर युद्ध हुआ। एक सेनानायक था, राम वर्मा। वह अवकाश पर था। लौटते समय मार्ग में, आंध्र लोग अरुणाचल मन्दिर पर आक्रमण करने वाले हैं ऐसा उसने सुना। अवकाश समाप्त हो रहा था, मार्ग में

सूचना हेतु निकट दुर्ग में गया। पर वहाँ के दुर्गनायक एवं सैनिकों ने आंध्रों के आक्रमण के भय से पलायन कर लिया था। किला खाली था। वहाँ मन्दिर में गया। वहाँ कोई पुजारी भी नहीं था। अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता भी देवता के लिये प्रिय नहीं होते हैं, आत्मा के लिये ही देवता प्रिय होते हैं। राम वर्मा ने देखा कि सब भाग गये हैं। उसने मन्दिर में दिया जलाया। किले के अस्त्रों को यथास्थान लगा दिया। तीन दिनों बाद आंध्रों का रात्रि में आक्रमण हुआ। पर राम वर्मा सावधान था। किला भी मजबूत था। वह अकेला ही लड़ता रहा। आंध्रों ने किले को घेर लिया। दो माह बीत गये। आंध्र लोग थक कर घर लौट गये। राम वर्मा ने जब अपनी फौज पुनः आ गई तो किला खोल दिया। अपनी फौज के सेनापति को उसने बताया कि यहाँ केवल मैं ही हूँ। चोल राजा को पता लगा कि अकेले व्यक्ति ने ही दुर्ग की रक्षा कर ली, सभी व्यक्तियों का काम उसने अकेले ही किया; तो उसे महासेनाध्यक्ष बना दिया गया और नियम कर दिया कि यह कभी मरेगा नहीं। जब तक चोल राजा का राज्य रहा तब तक इसे सदैव जीवित ही घोषित किया गया।

यह केवल चोल देश की ही कथा नहीं है। शाकल्य ने अनेक प्रश्न परम आश्रय कौन है—जानने के लिये किये। याज्ञवल्क्य ने कहा चेतन ही है। सदैव सब रूपों में चेतन हैं। संसार के सभी पदार्थों का परम आश्रय वह चेतन ही है। चेतन ही सब करता है। सारी साधनायें बाहर की केवल मदद हैं, चेतन की नहीं, उसे केवल स्फुट करने की मदद है। वही महासेनाध्यक्ष है, सब काम चेतन के लिये ही होते हैं। मधुसूदन

सरस्वती लिखते हैं, परमात्मा के लिये की गई प्रवृत्ति भी निवृत्ति है, संसार के पदार्थों के लिये निवृत्ति भी प्रवृत्ति है। संसार की प्राप्ति के लिये तपस्या करते हो, निवृत्ति करते हो, वह निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति ही है। अनात्म-पदार्थों के लिये की गई निवृत्ति भी प्रवृत्ति है। परमात्म-प्राप्ति के लिये की गई प्रवृत्ति ही निवृत्ति है। इस प्रकार एकमात्र परमेश्वर को स्थिति समझकर उस पर निष्ठा रखना एक प्रमुख वित्त है।

●

दण्डनिधान

बृहदारण्यक उपनिषद् में मन्त्र द्वारा कहा कि यदि उस परमात्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है तो फिर किस इच्छा और किसकी कामना से संताप देने वाली प्रवृत्ति करे! अपरोक्ष साक्षात्कार हमारे मन की परमात्माकार वृत्ति ही है जो सबसे महान् कर्त्तव्य है। इस अपरोक्ष साक्षात्कार के सहायकों का संग्रह करते हुए कहा है—

'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानम् आर्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥'

एकता, समता, सत्यता आदि सभी साधन हैं। कल स्थिति का विचार किया, आयतन का विचार किया। इसी क्रम में आया दण्डनिधान। किसी के भी अपराध करने पर, अनुचित

व्यवहार करने पर, व्यवहार भूमि में उसके प्रति जिसका विधान किया जाता है, उसको दण्ड कहते हैं। ग़लती करने पर, चाहे वह भौतिक दृष्टि से हो, वाचिक दृष्टि से हो, मानसिक दृष्टि से हो, किसी भी दृष्टि से किसी अनुचित कार्य के करने पर व्यवहार भूमि में जिसका विधान किया जाये, उसको दण्ड कहते हैं। किसी की ग़लती पर *क्रोध* आकर जो करते हो, उसका नाम दण्ड नहीं है। क्रोध एक प्रतिक्रिया है। दण्ड प्रतिक्रिया नहीं है, शान्ति से समझ-बूझ कर जो दूसरे के लिये, शास्त्रोचित ढंग से किया जाता है, उसको दण्ड कहते हैं। यदि कोई चोरी कर रहा है और तुम उसको डंडा मार दो, उसका नाम दण्ड नहीं है। दिल्ली की एक अदालत में एक हाकिम थे। एक मुज़रिम ने उनको सिर पर कुछ फेंक कर मारा। चोट लगी, पर बच गये, मर भी सकते थे। उन्हीं दिनों हम टैक्सी में कहीं जा रहे थे। ड्राइवर कहने लगा 'यह सरकार बेकार है। मुज़रिम ने जज को अदालत में मारा। मुकदमा चलेगा, गवाही होगी, तब दण्ड दिया जायेगा। जज उसी समय उसे पिटवा सकता था।' उसकी दृष्टि में इस प्रतिक्रिया को ही दण्ड समझा जा रहा है। जिस हाकिम को मारा गया, वह हाकिम होने पर भी उस समय प्रतिवादी है, अतः इस घटना का निर्णय करने वाला कोई तीसरा ही हो सकता है। यदि हाकिम स्वयं ही इसका दण्ड देगा तो प्रतिक्रिया से देगा, अतः दण्ड नहीं होगा। लड़के ने ग़लती की, तुमने चाँटा मारा—यह प्रतिक्रिया है, दण्ड नहीं है। जब तक अपराध को ठीक तरह से समझ कर शास्त्र का इस विषय में निर्धारण क्या है, इसका निर्णय करके उसके प्रति विधान न

किया जाये तब तक वह दण्ड नहीं है। लोक में दण्ड देना कठिन है। प्राय: तो क्रोध से प्रतिक्रिया ही की जाती है। विचारपूर्वक दण्ड होता है। एक मोटा नियम है जो प्रतिक्रिया को रोक सकता है : कोई ग़लती करे तो चौबीस घण्टे तक कोई चर्चा न करो। उसके पश्चात् ग़लती पर विचार करो। तब अधिकतर जो प्रतिक्रिया आती है वह शान्त हो जाती है। यह कठिन है, पर अभ्यास से सरल हो जाता है।

ऐसे दण्ड का निधान अर्थात् अब दण्ड भी नहीं देंगे—ऐसा निर्णय कर लेना, यह आत्मज्ञान का साधक है। यह मनुष्य को आत्मतत्त्व में स्थिर करने के लिये बड़ा साधन है, कारण क्या? कोई व्यक्ति कितनी भी बड़ी ग़लती कर ले, वह हमेशा अपनी ग़लती में कारण बतलाता है। जैसे हम ग़लती किसी अवस्था में करते हैं, वैसे ही प्राणिमात्र ग़लती किसी परिस्थिति में करता है। जब तक वह परिस्थिति नहीं बदलेगी, वह ग़लती उससे होगी—इस निश्चय से साधक में दण्ड की भावना नहीं, दया की भावना आती है। दण्डनिधान अर्थात् दण्डत्याग चित्त शुद्ध कर देता है। इससे ग़लती को नहीं, परिस्थिति को समझने का प्रयत्न होता है। 'ऐसी स्थिति में मैं भी यही ग़लती करता'—यह निश्चय मनुष्य को दूसरे को दण्ड देने से रोक लेता है और दया आ जाती है। क्योंकि मालूम है कि परिस्थितियों पर नियंत्रण की इसमें अभी सामर्थ्य नहीं है, अतः करुणा आती है। जो ग़लती कर रहा है, उसको अपने मन, इन्द्रियों को वश में रखना आता नहीं है, इसीलिये ग़लती कर रहा है। धीरे-धीरे मन, चिन्तन, इन्द्रियों की शक्तियों को बढ़ाने से फिर वह भी

ग़लती नहीं करेगा। अतः द्वेष की बुद्धि किसी के प्रति आती ही नहीं है। साधक के मन में सभी का कल्याण होवे—यह वृत्ति ही आती है।

दूसरे को दण्ड देने के लिये यह निर्णय करना पड़ता है कि 'मैं ठीक *ही* हूँ'। विचारशील यह नहीं कह सकता कि 'मैं ठीक ही हूँ'। हमारा ज्ञान सीमित, भावनायें, परिस्थितियाँ सीमित, इन सीमित दशाओं में, इनके द्वारा हम कैसे कह सकते हैं कि प्रत्येक परिस्थिति में हम ठीक ही होते हैं? हर परिस्थिति में यदि हम ठीक नहीं होते हैं तो दूसरा किसी परिस्थिति में ठीक न हुआ तो शिकायत की जगह ही नहीं है। अतः उसकी तरफ द्वेष की दृष्टि कभी बनती ही नहीं। पुराने लोग पहले कहते थे, 'भगवान् कभी कचहरी एवं अस्पताल का मुँह न दिखावे'। कारण क्या था? अस्पताल में जाकर यह निर्णय होता है कि शरीर में क्या दोष है। अदालत में भी निर्णय होता है कि इसने क्या दोष किया। दोनों जगह दोष-परीक्षा है। वहाँ मन में दोष की ही वृत्ति आयेगी। अतः प्रार्थना करते थे कि कभी दोषों का विचार न करना पड़े। दोष की दृष्टि बनाने से फिर वह रुकती नहीं है। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति, चीज़, क्रिया, दोषों से भरी पड़ी है। गीता में भगवान् ने कहा कि विचार करने से संसार के सारे कार्यों में दोष ही मिलेगा। जहाँ क्रिया है, वहाँ दोष ही मिलेगा। भगवान् ने कहा है 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'। जो अपना सहज कर्म, प्रकृति से प्राप्त कर्म है, वह दोष वाला हो तब भी न छोड़े। कर्म में दोष तो होगा ही। यह केवल अपने पर ही न लगा लेना। दूसरे का भी सहज कर्म दोष

वाला है, अतः वह भी तो नहीं छोड़ेगा। जैसे हम सहज कर्म दोष या बिना दोष वाला समझ कर भी करते हैं, ऐसे ही विचार से सामने वाला करता है; दोष तो दोनों जगह मौज़ूद है। जैसे-जैसे यह वृत्ति बनती है, वैसे-वैसे दृष्टि में अन्तर आने लगता है।

परमेश्वर सबको कर्मफल देता है। यह सब जानते हैं। परन्तु शास्त्रकारों ने परमेश्वर का एक विशेष रूप बतलाया। कर्म के अनुसार फल देने वाला परमेश्वर ही विश्वनाथ के रूप को धारण करके काशी में बैठकर 'दयावतारो न च कर्मतन्त्रः'। दया की मूर्ति धारण करके काशी में बैठे हैं। काशी में मरने वाला कैसा भी कर्म करने वाला हो, उसको मुक्त ही करते हैं। 'काश्यान्तु मरणान्मुक्तिः'। जिनके मन में दया नहीं उनको यह बात सहन नहीं होती! लोग प्रश्न करते हैं 'वहाँ पापी का भी उद्धार क्यों हो जाता है?' यदि पुण्यात्मा का ही उद्धार होता, तो काशी की विशेषता ही क्या रही? जैसे कालीकमली क्षेत्र ऋषिकेष में जो पंक्ति में खड़ा हो गया, उसको भोजन मिल ही जायेगा, ऐसे काशी में सभी को मोक्ष मिल ही जायेगा। यह परमेश्वर का दयामय रूप है। जिसके हृदय में स्वयं दया नहीं होगी, उसको यह बात ठीक लगेगी ही नहीं, विश्वास ही नहीं होगा। यह जो दयावतारता है, यही है 'दण्डनिधानम्'। सर्वत्र कर्म का फल देने वाले विश्वेश्वर वहाँ दण्ड का निधान कर देते हैं, दण्ड को अलग रख देते हैं। इसीलिये वे विश्वेश्वर हैं। यदि कर्म का फल मात्र देते तो, उनकी विश्वेश्वरता क्या थी? मीमांसकों ने इसीलिये कर्मफल देने वाले ईश्वर को नहीं माना! कर्म स्वतः ही

अपूर्व के द्वारा फल दे देगा। सांख्य सिद्धान्त ने ईश्वर को नहीं माना। कर्म स्वतः प्रकृति के द्वारा फल दे देगा। बौद्ध और जैन धर्म ने ईश्वर को नहीं माना, कर्म स्वतः संस्कार आदि के द्वारा फल दे देगा—कर्म फल देगा इसे जैन, बौद्ध, मीमांसक, सांख्य सब मानते हैं। कर्म एवं पुनर्जन्म, सिद्धान्त में, इनमें किसी का मतभेद नहीं है। सब मानते हैं कि कर्म का फल भोगना पड़ेगा। अपूर्व या संस्कार प्रकृति के द्वारा फल देवे, यह बात अलग है, पर कर्म स्वतः फल दे देता है; जैसा करोगे, वैसा भरोगे। इस नियम में ईश्वर को किस आवश्यकता के लिये लिया जाये? परमेश्वर की आवश्यकता दण्डनिधान के लिये ही है। दण्ड की योग्यता हमारी है। फिर भी हमें दण्ड नहीं मिले—यह दण्डनिधान हुआ। किसी भी निमित्त से परमेश्वर ऐसा कर लेता है। जब तक पहले अपने हृदय में दण्डनिधान नहीं होता, तब तक परमेश्वर के इस दण्डनिधान की युक्ति का स्वरूप भी समझ में नहीं आता। जब हम दण्डनिधान करना शुरु करेंगे, तब मन के अन्दर जो वृत्ति होगी, संस्कार होगा, उसके अनुकूल ही परमेश्वर में भी वह गुण प्रकट होगा, हमें प्रतीत होगा।

प्राचीन समय में एक दुराचारी व्यक्ति था। उसका आचरण दोष वाला था। दुर्बुद्धि भी था, बुरे विचारों वाला था। इन्द्रियों पर भी उसका कुछ नियंत्रण नहीं था। गुरु, शिव, वेद की निन्दा में सदैव तत्पर रहता था। जो व्यभिचारी हो, वह सद्बुद्धि वाला हो नहीं सकता है। उसे लगता है कि जो हमारे अन्दर दोष है, वह दोष सबमें अवश्य है। यदि हम बिना स्वार्थ के प्रवृत्ति नहीं कर

सकते, तो लगता है, सभी संसार में स्वार्थ से प्रवृत्ति कर रहे हैं। यदि किसी के स्वार्थ का हमें पता नहीं भी लगता, तो भी मानते हैं कि है ज़रूर। शास्त्रकार इस बात पर ज़ोर देते हैं कि अपने अन्तःकरण को शुद्ध करो, कारण है कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा तब तक शुद्धि कहीं आने वाली नहीं है। क्योंकि वह दुराचारी था, अतः गुरु सदाचारी है, यह उसको जँचता ही नहीं था। वे वेदादि पर आधारित ठीक उपदेश देते हैं—यह उसको कभी नहीं जँचता था। यह प्राचीन काल में ही नहीं, आज-कल भी यही हाल है। पढ़े-लिखे भी बेशर्म होकर के, कहेंगे कि 'ब्राह्मणों ने अपने मतलब की बातें शास्त्रों में लिख दी हैं। पुरुषों ने लिखा है इसलिये स्त्रियों के विरुद्ध लिख दिया है।' वेदादि शास्त्रों पर ही लांछन लगा देते हैं। भगवान् कृष्ण ने तो इसीलिये कह दिया, कि गीता हर व्यक्ति को सुनाना नहीं। जो मेरे ऊपर दोष की दृष्टि रखने वाला हो, उसको नहीं सुनाना। जो तपस्वी, शान्ति वाला न हो, भक्त न हो ऐसे को गीता नहीं सुनानी चाहिये। आज-कल के लोग कृष्ण में भी दोष देखेंगे। पाप-बुद्धि से ऐसी दृष्टि बनती है। भगवान् के ऊपर दोषारोपण करके और ज़्यादा पाप कमाते हैं।

प्राचीन समय था, अतः घरवालों ने सोचा कि इसके साथ रहने से बच्चों के संस्कार भी खराब होंगे। अतः बन्धु-बांधवों ने उसे गाँव से बाहर निकाल दिया। जब तक समाज में यह व्यवस्था थी, तब तक समाज में कुछ सुधार रहता था। अब यह चीज़ समाज में नहीं रही। जब कोई गुरु, वेद, शिव की निन्दा करता है तब दयालु बन जाते हैं, अपनी या अपने घरवालों की

निन्दा करे तब दयालु नहीं बनते हैं! समाज जब दुराचार स्वीकार करता है तब धीरे-धीरे इस प्रकार की प्रवृत्ति बढ़ती है।

एक बार उधर से कोई मुनि निकले। गर्मी थी, प्यास उन्हें लगी थी। उनको बैठाकर जल पिलाया। मुनि के पूछने पर उसने बताया कि 'कुल तो मेरा अच्छा है, हरिद्रथ राजा के काल में पैदा हुआ, विश्वरथ का पुत्र हूँ।' मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछा 'ऐसे बुरे हाल में कैसे हो?' कहा 'मेरे घर वालों ने मुझे घर से निकाल दिया, अतः यह स्थिति है।' कुछ उसे शरम भी आई। कहा 'कोई दूसरा ग़लती करे, उसे क्षमा कर नहीं सकता। किसी से मित्रता का व्यवहार मेरे लिये असम्भव है। मेरा चित्त सर्वथा मेरे वश में रहता नहीं, हमेशा मैं विषयों की तरफ ही दौड़ता रहता हूँ। इसलिये घरवालों ने मेरा त्याग कर दिया।' मुनि ने सोचा, 'इसने मेरे साथ सद्व्यवहार किया, तो इसको कुछ-न-कुछ रास्ता बताना ही चाहिये।' उन्होंने कहा 'तू कोई भी कार्य करते समय इस बात का विचार कर कि इस संसार को चलाने वाला परमेश्वर है। उस परमेश्वर का विचार कर, फिर कार्य किया कर। 'हे परमेश्वर! मैं ऐसा कुटिल व्यवहार कर रहा हूँ, मेरे अपराध को क्षमा करना'—ऐसा निवेदन कर तब कोई कार्य करना।' यह एक विचित्र मनोवैज्ञानिक सत्य है। यदि तुम हर बार अपनी ग़लती को महसूस करोगे तो धीरे-धीरे वह ग़लती छूट जायेगी। परमेश्वर से क्षमा माँगने का आशय ही है कि यह मान लिया कि यह ग़लत कार्य है। मनुस्मृति में जहाँ पापों का प्रायश्चित्त बतलाया है, वहाँ परमेश्वर के सम्मुख अपने

पाप को प्रकट करना भी एक प्रायश्चित्त बतलाया है। पाप को परमेश्वर के सामने स्वीकार करना भी प्रायश्चित्त होता है। मन कहेगा कि परमेश्वर के सामने स्वीकार करने से क्या होगा! पर स्वीकार करने से 'यह कार्य अपराध है, ग़लत है' यह धीरे-धीरे मन में जमने लगेगा। वह दुराचारी, मुनि के बताये ढंग से कार्य करने लग गया। फलस्वरूप अगले जन्म में ब्राह्मण के घर पैदा हुआ। पर पूर्व जन्म के संस्कार बने रहे। इस शरीर से इस जन्म में जो कर्म किये वे तो यहीं रह गये परन्तु कर्म के संस्कार और कर्मफल, पुण्य-पाप हमारे साथ जाते हैं। क्षमा-प्रार्थना सदैव करता रहता था, अतः वह संस्कार उसके साथ गया। फलस्वरूप बचपन से ही प्रवृत्ति हुई कि किसी भी अपराध को न करूँ। मन परमेश्वर से क्षमा-प्रार्थना करता रहता था, अतः परमेश्वर के आधीन हो गया, परमेश्वर की तरफ प्रवृत्ति हो गई। अतः इस जन्म में परमेश्वर की कृपा हो गई। परमेश्वर की कृपा से वह धीरे-धीरे परमेश्वरमय हो गया। मन जिस आकार को ग्रहण करता जायेगा वही आकार *तुम्हारा* बनता जायेगा। 'यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः'। शास्त्रकार कहते हैं, जैसा तुम्हारा निश्चित चित्त बन जाता है, वही तुम्हारा रूप बन जाता है। यही सनातन रहस्य है। मन उसका परमात्ममय बन गया, परमात्मा ही उसका सहारा हो गया। समस्त कर्म-बन्धन उसके नष्ट हो गये और परमपद को प्राप्त कर गया। उस मुनि ने उसके अपराधों की तरफ दृष्टि नहीं की, कैसे वह पाप-दण्ड से बचे, उस मार्ग में प्रवृत्त कर दिया। यह दया है। यह है दण्डनिधान।

अभी हम करते हैं प्रतिक्रिया। इसके बाद जाना है दण्ड में, तब जाना है दण्डनिधान में। उसने किस परिस्थिति में पाप किया—इसका विचार कर परिस्थिति ऐसी बनाओ ताकि आगे पाप न करे। उसे उस मार्ग में लगाओ जिस पर वह उस अपराध में से निकल जाये। इसी से लोग कहते हैं 'अपराध से घृणा करो, अपराधी से नहीं।' पर यहाँ कह रहे हैं कि अपराधी से भी घृणा नहीं और अपराध से भी नहीं। हमको तो ऐसी पुष्टि करनी है कि सामने वाला वह पाप करे ही नहीं। जैसे कोई व्यक्ति जोड़ में ग़लती करता है, क्योंकि जोड़ ग़लत याद है। आवश्यकता सही याद कराने की है। यह जो पुष्टि का मार्ग है जिससे वह, अपराध के चंगुल से हट जाये, यह वास्तविक दण्डनिधान है, जैसा उस मुनि ने किया। अतः अपराध का दण्ड न देना अन्तिम स्थिति है जिसमें वह सहायता करो जिससे वह व्यक्ति कभी अपराध न करे, हमेशा के लिये उससे छूट जाये। जब यह दण्डनिधान की भावना आती है, तब विचार होता है कि अपराध से कैसे हम छूटें या दूसरे को छुड़ावें, ऐसी सामर्थ्य आवे कि ऐसी ग़लती फिर न होवे, सर्वत्र आत्मदृष्टि हो। इस दण्डनिधान से आत्मतत्त्व का जो अपरोक्ष अनुभव है, वह सम्भव हो जाता है।

•

सरलता

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्र की व्याख्या चल रही है, जिसमें कहा है कि उस परब्रह्म परमात्मा

का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर, किस इच्छा और किसकी कामनासे, संताप देने वाली प्रवृत्ति करे। उस आत्मतत्त्व के अपरोक्ष साक्षात्कार के लिये जिस धन की आवश्यकता होती है, उसका विचार कर रहे थे। एकता, समता, सहायता, शील, स्थिति आदि वे धन हैं। इनमें दण्डनिधान का विचार किया।

अगला है आर्जव। आर्जव का मतलब होता है ऋजुता, सीधापना, सरलता। संस्कृत में ऋजु का मतलब होता है, सीधा, जिसमें टेढ़ापन न हो। इसी को सरलता कहते हैं। यह मानव बनने की पहली निशानी है। जब तक जीवन में सरलता नहीं आती, ऋजुता नहीं आती, जब तक कुटिलता बनी रहती है, तब तक वह मनुष्य ही नहीं है। मनुष्य का शरीर ज़रूर मिला है, पर मनुष्य का स्वरूप नहीं है। कलकत्ते में मिट्टी के फल बनाते हैं। जब तक हाथ न लगाओ तब तक लगता है ये आम, केला, तरबूज ही हैं। ऐसा निश्चित पता लगता है। परन्तु फल का स्वभाव है कोमलपना। मिट्टी के बने फल में कठोरता होगी। इसी प्रकार *मनुष्य* से व्यवहार करने पर सरलता प्रतीत होती है, कुटिलता प्रतीत नहीं होती। तभी समझो वह मनुष्य है। यदि उसमें ऋजुता नहीं है तो समझो कि मनुष्य ही नहीं है। ऋजुता का मतलब है जैसा मन में भाव हो, वैसा वाणी में प्रकट हो, और वैसा आचरण भी हो। कुटिलता का मतलब है मन में कुछ होना, वाणी से कुछ और बोलना। जैसे, चार और गुलाब जामुन खाने की इच्छा है पर कहता है 'पेट भर गया, नहीं चाहिये।' बाद में कहेगा 'भोजन में ठीक सत्कार, मनवार नहीं था।' धीरे-धीरे छोटी-छोटी बातों से मनुष्य का कुटिलता का स्वभाव ही

बन जाता है, आगे वाणी और जीवन में सरलता नहीं रहती है। जो कहता है, उसे जीवन में घटाता नहीं है। दूसरे को करने को कहता है पर वैसा स्वयं करता नहीं है। प्रयत्न करता नहीं। जैसा कहता है, वैसा पूरा अपने जीवन में घटा ले, यह तो दुर्लभ है। जीवन में इतने मद मात्सर्य ईर्ष्या द्वेष भरे पड़े हैं, उनके कारण हम अनेक बार ग़लती करेंगे। यदि उस ग़लती को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं, तब तो है सरलता। यदि जीवन में सुधार को लाना ही नहीं है, प्रयत्न ही नहीं है, तब कुटिलता है। एक अलवर के पण्डित हमारे पास आते रहते थे। एक बार दो-चार माह तक आये नहीं, जब आये तो हमने पूछा 'कमज़ोर लग रहे हो, काफी समय से आये नहीं?' उन्होंने कहा 'बीमार हो गया था।' हमने कहा 'महामृत्युंजय का जप क्यों नहीं कर लिया?' तुरन्त कहा 'इससे क्या होता है?' जबकि दूसरों के लिये वे कर्मकाण्ड करते थे! यह कुटिलता का लक्षण है, सरलता का नहीं। जीवन में सरलता का बहुत बड़ा स्थान है। इससे मनुष्य के मन के कमियों को परमेश्वर क्षमा कर देता है। सरलता है, मन-वाणी में एकता होवे। जैसा कहें वैसा अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करें।

जब मन में सरलता होगी तब दूसरे की बात को भी सरलभाव से ग्रहण करेगा, उल्टा अर्थ नहीं लगायेगा। ऐसा व्यक्ति गुरु की, शास्त्र की बात को भी ठीक नहीं समझेगा। वहाँ भी बात को उल्टी ही समझेगा। बुद्धि विपरीत ही कार्य करेगी। माता-पिता की बात में भी विपरीत भाव रखेगा। जैसा दूसरे का

कहना, वैसा ही दूसरे का व्यवहार भी कुटिल को ठीक समझ नहीं आता। यदि कोई प्रेम से व्यवहार करेगा, तो भी सोचेगा, 'यह कोई अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है'। सरल व्यक्ति सामने वाला जैसा कहेगा, वैसा ही स्वीकार करेगा। लोग कहते हैं 'ऐसा करने पर अनेक बार धोखा खाना पड़ता है।' इसको हम मना नहीं करते। जैसे किसी व्यक्ति ने तुमसे ग़लत तरीके से सौ रुपया ले लिया। उसने कुटिलता से कहा, तुमने सरलता से समझा। तुम्हारा सौ रुपया चला गया। पर यदि तुमने ऋजुता को छोड़, कुटिलता को ग्रहण कर लिया, तो मनुष्य जीवन में आने का जो प्रमुख उद्देश्य है, आत्मज्ञान की प्राप्ति, वह हाथ से चली गई। अब विचार करो, सचमुच कौन ठगा गया? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो। संसार के पदार्थों को जब आना होता है, तब आते ही हैं, जाना होता है तब जाते ही हैं। अतः सचमुच में तुम्हारा कोई नुकसान नहीं हुआ। यदि गया, तो भी नुकसान नहीं है। क्योंकि तुमने जीवन में परमात्म-मार्ग अपनाया, जिसके लिये इस मनुष्य शरीर में आये थे वह प्राप्त किया। तुमने रामजी के दर्शन का निश्चय किया और अयोध्या पहुँचे। वहाँ ताँगे वाले से तुम्हारी झड़प हो गई कि वह ठग रहा है। तुमने कहा कि 'यहाँ से वापिस ही जाना है!' तुम वापिस आ गये, तो तुमने कुछ खोया या पाया? कितनी कठिनता से तुमने मानव शरीर प्राप्त किया, जिसका उद्देश्य आत्मज्ञान की प्राप्ति है, परमात्मा का साक्षात्कार, दर्शन करना है। अपने संसार के पदार्थों को बचाने में यदि यह लक्ष्य ही छूट गया, तो हमारे हाथ क्या लगा? किसी ने कहा है कि कोई तुमको ठग ले तो ठग ले जाने

दो। पर तुम किसी दूसरे को ठगने का प्रयत्न मत करो। खुद ठगे जाओगे तो सुखी होगे। दूसरे को ठगोगे तो दुःखी होगे। ॠजुता, सरलता के द्वारा लौकिक हानि होने पर भी तुम्हारा पारमार्थिक मार्ग खुलेगा।

लौकिक हानि जब होनी है तब होती ही है। लेकिन ॠजुता से अपनी सरलता, अपने मन में चिन्तन करने के प्रकार की सरलता बनी रहती है। प्रत्येक अनुभव जब हमारे सामने आता है तब उस अनुभव को वह जैसा है, उस रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। अथवा वैसा ग्रहण न करके उसकी वास्तविकता को ढाँका जा सकता है। जैसे, सब चीज़ें बदल रही हैं और बदलने वाली चीज़ों में एक है जो उन सबको अनुभव करने वाला है, आगे की चीज़ों की आशा करने वाला है और स्वयं नहीं बदल रहा है। अपनी बाल्यावस्था को, युवावस्था को हम स्मरण करते हैं। वह अब ढूँढने से मिलती नहीं। पर हम, जिसने बाल्यावस्था का, युवावस्था का अनुभव किया, अब भी मौजूद हैं। दीख रहा है कि अवस्थायें, पदार्थ, लोग, बदलते जा रहे हैं, पर उनको जानने वाला, अनुभव करने वाला वैसा का वैसा है। सरल व्यक्ति होगा तो उसे उस आत्मतत्त्व को समझने में कोई कठिनाई नज़र नहीं आयेगी। लोग समझते हैं आत्मा का ज्ञान बड़ा कठिन है, पर यह सरल है, यदि सोचने की प्रणाली सरल हो जाये तो। हमने मन में सोचने की प्रणाली बड़ी कुटिल बना रखी है इसलिये सरल होने पर भी आत्मबोध हाथ में आता नहीं। मन के सोचने की प्रणाली को सरल करना—यही सबसे

कठिन साधना है। ऋजुता में पलहे, जो मन में होवे तदनुकूल वाणी रखो। दूसरी बात, वाणी के अनुकूल जीवन ढालो। तीसरा कदम है कि दूसरों के साथ व्यवहार करने में उनके अन्दर किसी कुटिलता की दृष्टि को मत करो। ये तीन फिर भी सरल साधन हैं। चौथा बिन्दु ऋजुता का है कि जहाँ से सब साधन शुरू होते हैं। उस मन की चिन्तन-प्रणाली में सरलता लाओ। जो चीज़ जैसी है उसका वैसे ही ग्रहण, वैसे ही उस अनुभव को समझने का प्रयत्न करना। अपने अन्दर राग-द्वेष से जो आग्रह है, उसके अनुसार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। विचारों की जटिलता एवं कुटिलता को सिखाने के विद्यालय खुले हैं। आधुनिक शिक्षा ये दाँव-पेंच ही प्रधानतः सिखाती है। यह जो मन के चिन्तन की प्रणाली की कुटिलता है, इसे निकालना सबसे कठिन होता है। परमात्मा के सामने सरलता की महत्ता है। इसीलिये शास्त्रों को जब समझना हो, तब कुटिलता के चश्मे से मत पढ़ो ऋषि लोग सर्वथा सरल थे। जिस सरलता से उन्होंने अनुभव किया वैसा ही प्रकट किया है। उनके अर्थों का अनर्थ करने की ज़रूरत नहीं। जैसा उनका भाव है, वैसा ही निश्चय करके चलना है। हो सकता है कुछ कभी समझ में न भी आवे। परमात्मा ऋजुता को इतना प्रेम करते हैं कि सरलता से तुम यदि ग़लती भी करते हो, तो वे उसको ग़लती नहीं मानते।

कौशल देश में देवदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। उसके कोई पुत्र नहीं था। उसने पुत्रकामेष्टि यज्ञ का निर्णय किया। यज्ञ में सामवेदी ब्राह्मण आये थे, उनको वृद्धावस्था के कारण श्वास

की तकलीफ थी। उनके वेद उच्चारण में त्रुटि के कारण देवदत्त को क्रोध आया। उसने उन पुरोहित को कड़वी बात कहकर डाँटा। ब्राह्मण ने कहा 'उम्र के कारण ग़लती होना स्वाभाविक है, उस पर तू गुस्सा कर रहा है, यह ग़लत है। तुझे लगता है कि मेरे दोष से तुझे पुत्र नहीं होगा लेकिन मैं घोषित करता हूँ कि अवश्य होगा किन्तु तूने मेरी विद्या का अपमान किया है इसलिये मूर्ख ही होगा।' देवदत्त ने विचार किया, 'मेरे से भूल हो गई। यदि मूर्ख पुत्र हुआ तो इससे बिना पुत्र का रहना ठीक है।' ब्राह्मण से देवदत्त ने क्षमा माँगी, कहा 'आपके शाप से यदि मूर्ख पुत्र हो गया तो मैं दुःखी हो जाऊँगा।' प्रार्थना करने पर मुनि ने कहा 'पुत्र मूर्ख उत्पन्न होगा, पर आगे वह विद्वान् बन जायेगा।' यज्ञ समाप्त होने के बाद समय पर पुत्र हुआ। नाम उतथ्य रखा गया। बड़ा हुआ पर मूर्ख रहा। अन्य ब्राह्मण उसकी निन्दा करने लगे। पुत्र ने पिता से कहा 'मैं जंगल में जाकर कुटिया में रहूँगा।' जंगल में पर्णकुटी में रहने लगा। उसे ज्ञान तो कुछ था नहीं। पर सदैव सत्य बोले, एवं सरल भाव से रहे। कुटिलता के लिये बुद्धि चाहिये, सरलता के लिये नहीं। मूर्ख था अतः सत्य सरल ही व्यवहार करता था। मूर्खता भी कभी-कभी मनुष्य के कल्याण का साधन बन जाती है। देखा जाता है, बड़े-बड़े विद्वान् भी कभी उस परमात्म-ज्ञान से दूर ही रह जाते हैं जबकि साधारण बुद्धि का व्यक्ति उपदेश को हृदय में धारण कर लेता है और कृतार्थ हो जाता है। सन्देह की कोई सीमा नहीं है। इसलिये उपनिषदों ने स्पष्ट कर दिया, सारे संशय तभी नष्ट होते हैं, जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। जब तक परमात्मा

का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक सारे संशय नष्ट नहीं होते। एक संशय से नवीन अन्य संशय पैदा होते रहेंगे। एक वृत्ति संशय हटाने की, दूसरी संशय पैदा करने की होती है। उतथ्य सरल था, उसकी मूर्खता ही उसका लाभ बन गई। सत्य और सरलता का साधन करते हुये, उसे बारह वर्ष बीत गये। वह सत्यव्रत्त नाम से प्रसिद्ध हो गया।

एक बार एक निषाध ने एक वराह को बाण मारा। वह घायल हुआ उसी आश्रम में आया। सत्यव्रत ने 'ऐ ऐ' कहा। यह 'ऐं' भगवती सरस्वती का बीज है। उसने अनुस्वार-रहित ही बोला, वर्ण से रहित उसने 'ऐ' उच्चारण किया। 'मैं भगवती का नाम ले रहा हूँ' ऐसा उसे ज्ञान भी नहीं था। हृदय में करुणा थी एवं भय के कारण एकाग्रता भी थी। उसके ऐसा उच्चारण करने से उसके हृदय में ज्ञान की उपलब्धि हो गई। अब निषाध उस वराह को लेने आया। उस समय उसके सामने सत्य बोलने या झूठ बोलने की परीक्षा का समय आ गया। दोनों ओर भयंकर धर्म-संकट था। उसके हृदय में एक स्फुरणा हुई 'या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति' अर्थात् जो आँख देखती है वह बोलती नहीं, जो जबान बोलती है वह देखती नहीं। ऐसा ही उसने उस निषाध को कह दिया। यह निषाध की समझ में आया नहीं। अत: वह वहाँ से चला गया। इसी से उसके हृदय में स्फुरण हुआ कि उपाधि वाला कोई और है, उपाधियाँ भिन्न हैं; यह उसको अनुभव हो गया। आँख और जबान उपाधियाँ हुईं, उनसे भिन्न है उपाधि वाला। सारी उपाधियों को वह धीरे-धीरे विचार करके हटाने लगा, अन्त में भगवती की कृपा से उसे

निरुपाधिक अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया। जब वही ज्ञान हो गया जिसके जानने से सब कुछ जान लिया जांता है तो बाकी विद्यायें तो स्वतः प्राप्त हो गईं। यही ब्रह्मविद्या का लक्षण बतलाया है कि जिसके साक्षात्कार कर लेने से कुछ भी छिपा नहीं रह जाता, सब कुछ जान लिया जाता है। वापिस घर गया। पिता उसके स्वरूप को देख कर ही पहचान गया, कि इसने उस विद्या को प्राप्त कर लिया है जिससे मनुष्य का जन्म सफल होता है।

केवल सरलता के आधार पर ही यह वहाँ तक पहुँच पाया। सरलता अन्दर के बन्धनों को खोलती चली जाती है। कुटिलता बन्धनों को कठोरतर बनाती जाती है। सामान्यतः मूर्ख जिनको हम मानते हैं, वे सब सरल नहीं होते। कुटिलता तो होती है पर उसको करने वाली बुद्धि नहीं होती, थोड़ी-सी कुटिलता पर ही पकड़े जाते हैं। सरल वह है जिसमें कुटिलता की स्फुरणा न होवे। कुटिल व्यक्ति ही अन्य कुटिल व्यक्ति को बड़ा बुद्धिमान् मानता है, अपने को मूर्ख मानता है। उसकी कुटिल बनने की कामना है पर वैसी बुद्धि का यंत्र उसके पास नहीं है। उतथ्य को कुटिल बनने की कामना भी नहीं थी। जहाँ मन के चिन्तन की प्रणाली सरल हो, वहाँ मनुष्य आत्मतत्त्व तक पहुँच जाता है। जहाँ सर्वत्र सरलता होती है, वहाँ मन की सरलता स्फुटित होने से आत्मतत्त्व तक पहुँचने की सामर्थ आ जाती है। अतः उस सरलता को आत्मज्ञान का साधन बतलाया।

क्रियोपरम

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के इस मन्त्र का विचार चल रहा है, जो बताता है कि परमात्म-तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर किस इच्छा और किसकी कामना से अनुताप होने वाली क्रिया हो। इस आत्मतत्त्व के अपरोक्ष साक्षात्कार के लिये, आवश्यक वित्त का विचार कर रहे थे। अनेक साधनों का विचार हुआ। अन्तिम वित्त है 'उपरमः क्रियाभ्यः' क्रियाओं से उपरामता। इसको समझना ज़रूरी है। रमण का मतलब होता है, खेलना। भाषा में भी कहते हैं 'वह रम रहा है' अर्थात् वह खेल रहा है। अतः क्रियाओं के अन्दर खेलने की दृष्टि का न होना क्रियाओं से उपरम है। जिस में व्यक्ति रत हो जाता है, उससे वह आनन्द लेता रहता है। बच्चा खेल रहा है, रम रहा है तो उसमें आनन्द ले रहा है। इसके विपरीत वृत्ति है उपरम। अर्थात् क्रियाओं को करने पर भी उसमें आनन्द का अनुभव न करना, इससे सुख है यह भाव। यह दृष्टि न होना। जीवन में सर्वथा क्रिया का न होना असम्भव है। मनुष्य कुछ न कुछ क्रिया करेगा ही। यदि क्रियाओं में उपरति होती है तो क्रिया समाप्त होते ही, क्रिया से कर्त्ता अलग हो जाता है। यदि क्रिया में रति होती है तो वह क्रियाओं को बढ़ाता जाता है। क्रिया रति से बढ़ती है। मनुष्य अपने ऊपर संसार की सारी जिम्मेदारियों को ओढ़ सकता है। कुछ क्रियायें जीवन में आवश्यक हैं पर उन क्रियाओं के आधार पर हम अन्य अनेक क्रियाओं को बढ़ा लेते हैं। जितना-जितना व्यक्ति क्रियाओं को

अपने अन्दर लेता जायेगा, अन्य लोग भी उसी पर क्रियायें डालते जायेंगे। अन्त में उन क्रियाओं के बोझ से स्वयं भी परेशान होता है, दूसरे भी उससे और करने की आशा करते हैं। यदि एक के लिये तुमने किया तो अन्य भी तुमसे ही आशा करते हैं। न करने पर बुराई के पात्र बनते हो। क्रियायें बढ़ती हैं, दूसरों की आशायें बढ़ती हैं, दूसरों को नैराश्य भाव की प्राप्ति होती है। परिणामस्वरूप जो हमें वास्तविक कार्य करना है उससे अलग हो जाते हैं।

जीव इस मनुष्य लोक में किसी विशिष्ट कार्य को करने के लिये आया है। गर्भकाल में यह प्रार्थना करता है कि बाहर जाने पर क्या करूँगा; प्रार्थना करता है 'यदि योन्यां प्रमुञ्चामि ध्याये ब्रह्म सनातनम्।' यदि मैं इस योनि द्वार से छूट गया तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा। वह ब्रह्म समग्र अशुभ कर्मों को नष्ट करने वाला, सारे पापों को दूर करने वाला है। ऐसा जो परमात्मा है, मैं उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न चिन्तन ध्यान करूँगा।— यह प्रतिज्ञा करता है। यहाँ उसका एकमात्र प्रयोजन है कि वह परमात्मा की प्राप्ति करे। यही मनुष्य जीवन में आने का एकमात्र उद्देश्य है। किन्तु जब वह क्रियाओं का विस्तार करता जायेगा, उनमें रमण करता जायेगा, तब मुख्य लक्ष्य से चूक जायेगा। इसलिये आवश्यक है कि वह क्रियाओं से उपरति करे। कुछ क्रियाओं का तो सर्वथा परित्याग असम्भव है। कुछ क्रियायें ऐसी हैं जिनको करना ज़रूरी नहीं। दोनों का भेद करना, समझना ज़रूरी है। यह भेद तब समझा जा सकेगा, जब पहले यह समझ

लिया जाये कि कौन-सी क्रिया हमारे किस उद्देश्य के लिये आवश्यक है। यदि यह मान लिया कि धन कमाना आवश्यक है, तब उससे सम्बन्धित सब क्रियायें आवश्यक हो जायेंगी। इसी प्रकार परमात्म-प्राप्ति लक्ष्य है तो जो क्रियायें उस तरफ ले जाती हैं, वे क्रियायें आवश्यक हो जायेंगी, अन्य क्रियायें अनावश्यक हो जायेंगी। वैराग्य में सदैव यह निर्णय करना पड़ता है कि किससे वैराग्य करना है। यदि लक्ष्य स्पष्ट नहीं होगा, तो आवश्यक चीज़ से भी वैराग्य कर सकते हो।

एक व्यक्ति को तीर्थयात्रा की बिलकुल इच्छा नहीं होती थी। पत्नी ने कहा 'लोभ छोड़ कर कुछ तो तीर्थ-यात्रा करो, धन का उपयोग करो।' कहने पर उसने मान लिया। हरद्वार गया। सब मन्दिरों तीर्थों के वहाँ दर्शन किये, अन्य धर्म-कर्म भी किये। पण्डे ने कहा 'कुछ यहाँ छोड़ना चाहिये' अर्थात् जैसे कोई बुरी आदत हो, तो उसे छोड़ने की प्रतिज्ञा तीर्थ में करनी चाहिये। छोड़ने के नाम पर उसने प्रतिज्ञा की, 'मैंने तीर्थयात्रा करना छोड़ दिया।' धर्मशाला में आया तो पत्नी ने कहा 'चार धाम यात्रा पर जाना है।' उसने कहा 'पर मैं तो तीर्थयात्रा छोड़ने का व्रत लेकर आ गया हूँ।'

विचारहीन व्यक्ति ग़लत चीज़, न छोड़ने योग्य चीज़ भी छोड़ देगा, इसी तरह साधारण व्यक्ति परमात्मा से वैराग्य करके बैठा रहता है! संसार के पदार्थ कितने भी दुखदायी हों, उनमें तो फँसता ही रहता है। मन्दिर में यदि जूता-चप्पल चोरी हो जाये, यदि तीर्थ में भीड़ में धक्का लगता है तो मन्दिर या

तीर्थस्थान ही छोड़ने का विचार करता है। और कहीं चाहे ऐसा होता रहे, नुकसान, चोरी, एक्सीडेंट, अपमान, धोखा आदि होता रहे पर कमाई का, मनोरंजन का मौका मिलता हो तो कभी छोड़ने की नहीं सोचता। अर्थात् परमात्म-कार्य के विषय में तो शीघ्र वैराग्य होता है। मुकदमे के लिये कानून समझने के लिये चार बार वकील के यहाँ धक्के खाता है, पर शास्त्र को समझने का कष्ट नहीं करेगा, यहाँ वैराग्य हो जाता है। जब तक लक्ष्य स्पष्ट नहीं होगा तब तक ग़लत क्रियाओं को तो छोड़ देंगे, जिनको नहीं छोड़ना चाहिये उनको तो छोड़ देंगे, जिन क्रियाओं को करना चाहिये उनको नहीं करेंगे। अतः शास्त्रकार कहते हैं कि यह विचार पहले ज़रूरी है कि क्या जीवन का लक्ष्य है और हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं।

संसार के व्यवहारों में हमको निरन्तर दुःख हो रहा है। संसार के पदार्थों में निरन्तर दुःख का ताप होता है। क्यों? विषय और इन्द्रिय के संयोग से ही संसार के व्यवहार आगे चलते हैं और विषय स्वतः दुःखरूप हैं। हर विषय दुःख ही देगा। भगवान् ने संसार का रूप बतलाया 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' संसार दुःख का घर है। यहाँ सुख का नामनिशान नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं 'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमपि अस्ति' संसार में सुख की गन्ध का लेश भी नहीं है। फिर हमें इसमें सुख क्यों दीखता है? संसार में सुख का नामनिशान नहीं है क्योंकि विषय स्वरूप से ही जड, दुःखरूप है। तुम्हारे कारण से इनमें सुखरूपता आती है। तुम विषयों की पहले इच्छा करते हो, उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते हो। कोशिश करते

पर जब पदार्थ मिल जाता है, तब तुम्हारी इच्छा-पूर्ति हुई तो तुम समझते हो सुख हुआ! यदि तुमने इच्छा न की होती तो वह पदार्थ तुमको कभी सुख नहीं देता। पुराने लोग दूध में घी डालकर पीते हैं। अब तो लोग दूध ही पीना नहीं चाहते! हम लोगों को दूध में घी की इच्छा थी तो सुखरूप था। आजकल बच्चों को ऐसे दूध की इच्छा नहीं तो वही उनके लिये दुःख हो जाता है। अतः इच्छा के कारण वस्तु में सुखरूपता आयेगी, अन्यथा वह दुःखरूप है ही। अतः संसार के पदार्थों में कही सुखरूपता नहीं है। केवल हमारी इच्छा-शक्ति में पदार्थ के अन्दर सुखरूपता को आहित करने का, चढ़ाने का सामर्थ्य है। पदार्थ हमें सुख नहीं देते, पदार्थ की जो हमने इच्छा की, उस इच्छा की निवृत्ति से सुख हुआ करता है। जिस व्यक्ति को पदार्थ की इच्छा नहीं उसको वह सुख पहले ही उपलब्ध है! इसीलिये संसार में मनुष्य दुःखतप्त है, क्योंकि इच्छा तो थोड़ी चीज़ों की करता है, उससे उसको अनेक पदार्थों से विषय-इन्द्रिय संयोग करते रहना पड़ता है, जिससे उसको दुःख ही होता रहता है। हम संसार की इस दुःखरूपता को नहीं जानने से समझते हैं कि संसार के पदार्थ सुख देंगे। कभी ऐसी वृत्ति होती है कि पुण्य के फल से मनुष्य सोचने लगता है 'रात-दिन मैं इस संसार में दुःख उठा रहा हूँ, किस प्रयोजन से? किस कारण से? इसका अन्त क्या है?'

संसार के दुःख भोगते हुए भी संसार की दुःखरूपता का निश्चय नहीं होता है। एक व्यक्ति ने भगवान् शंकर की तेरह वर्ष तक आराधना की। भगवान् ने प्रसन्न होकर उससे कुछ माँगने

को कहा। उसने सुख माँगा। भगवान् ने विचार किया, यह कठिन है! उससे किसी वस्तु का नाम बता कर माँगने को कहा। सुख तो *चीज़* है नहीं जो दी जा सके। जिसको जो इष्ट होता है, उसको वह चीज़ सुख देती है। सुख किसी पदार्थ का नाम तो है नहीं। जिसको जो चीज़ अच्छी लगे, वही उसके लिये सुख है। उसने कहा 'मुझे पता नहीं। पहले कोई सुख वाली चीज़ बता दो और दे दो।' भगवान् ने कहा 'सालभर तक तू विचार कर ले कि कौन-सी स्थिति सुख की है, वही चीज़ हम दे देंगे।' वह सुख ढूँढने चल दिया। हर व्यक्ति सोचता है कि दूसरा सुखी है! ऐसा नहीं समझना कि धनवान् अपने को सुखी समझता है! वह देखता है कि नौकर गहरी नींद सो रहा है जबकि सेठ खुद करवटें बदल रहा है, क्योंकि टैक्स भरना है, हिसाब बनाना है। चिन्ता में रात बिता देता है, नौकर खर्राटे भरता है। सेठ पतली मूँग की दाल और दो रोटी बिना घी के खाता है। सब कुछ डाक्टर ने मना किया है। धनी व्यक्ति नौकर को देख कर सोचता है, 'यह बड़ा सुखी है।' सास बहू के बारे में भी ऐसा ही सोचती है। विद्वान् सोचता है मूर्ख लोग बड़े सुखी। कुछ लिखना, पढ़ना, सोचना ही नहीं है। मूर्ख सोचता है विद्वान् सुखी है। संसार में जिससे पूछो, कहता है 'संसार में सुख तो है, पर मुझे नहीं मिला। दूसरे को है।' उस भक्त को भी सुख नाम की चीज़ संसार में मिली नहीं। साल बाद शंकर भगवान् के पास गया, कहा 'भगवन् देख लिया, संसार में तो सुख है ही नहीं। संसारी लोग सोचे बिना, एक अन्धे के पीछे दूसरा जैसे चलता है, वैसे चल रहे हैं। सोच-विचार करते नहीं इसलिये संसार की

दुःखरूपता का उनको निश्चय होता नहीं। मुझे सुखी मिला तो नहीं पर मैं सुखी होना चाहता हूँ।' यही संसार की भी स्थिति है।

भगवान् ने कहा, 'सुखी होना चाहते हो तो संसार के पदार्थों से सुख मिलना नहीं है। संसार में सुख है ही नहीं।' जब तक यह निश्चय नहीं होता तब तक परमात्म-मार्ग में दृढता से नहीं चला जायेगा। जब तक पदार्थों की सुखरूपता का संस्कार है तब तक उधर ही प्रेरित होगे। जब पता हो कि किसी गाँव में पैदल ही एकमात्र जाने का मार्ग है, और जाना है, तब तुम कैसा भी कठिन मार्ग हो, निकल जाओगे। अतः यदि निश्चय हो जाये कि संसार के पदार्थों में सुख नहीं है, सिवाय परमात्मा के अन्यत्र सुख है नहीं, तब तुम उसी मार्ग पर चलोगे, चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े। जब तक संसार के किसी पदार्थ में सुख हो सकता है—ऐसा मानोगे, तब तक परमात्मा के मार्ग पर चलना कठिन लगेगा क्योंकि अभ्यास पड़ा है विषयों का और यहाँ विषयों को ही छोड़ना है। भगवान् शंकर ने कहा 'यदि सुखी होना चाहते हो तो निश्चय मानो कि संसार में सुख नहीं है।' संसार में दो ही चीज़ें हैं—या विषय, या उनको देखने वाला विषयी। जब बाह्य पदार्थों में सुख नहीं तो उनसे दृष्टि हटाकर अपनी तरफ दृष्टि करो।

यह जो अपने मन को पलटना है, यह बड़ा कठिन लगता है। इसलिये मनुष्य किसी न किसी बाह्य विषय के आलम्बन से सोचता है, 'मैं इसके पार चला जाऊँ'। यदि प्रत्यक्ष से बाह्य विषयों को ग्रहण नहीं करता, तो भावना से परमात्मा को बाह्य

विषयाकार बनाकर, खड़ा कर लेता है। यदि बाह्य रूप को नहीं देखता तो हृदय में रूप को खड़ा कर देता है, बाहर जैसा विषय दीखा नहीं, वैसी कल्पना कर लेता है। उससे उसको मन में कुछ धैर्य बना रहता है। सर्वदा मन को परमात्मा की तरफ नहीं करना पड़ा। जैसे एकादशी व्रत में दशमी को दिन में भोजन करो, एकादशी को निराहार रहो। रात्री में भोजन न करो। दिन में कीर्तन और रात में जागरण करो। यह एकादशी का नियम है। इससे सब लोग घबरा जायेंगे। एकादशी के दिन आलू का हलुआ, कूट्टी या सिंघाड़े की पूड़ी खा सकते हो। बादाम का हलुआ खा सकते हो—तब सभी लोग व्रत के लिये तैयार हो जायेंगे। एकादशी व्रत वाले के लिये द्वादशी को कढ़ी चावल खाने का नियम है। इसी प्रकार से संसार के विषयों से मनको हटा कर परमात्मा की तरफ ले जाओ। बहिर्मुख वृत्ति को हटाकर अन्तर्मुख बनो—यह अतिकठिन प्रतीत होता है। इसके बजाय जो रूप संसार में देखने में नहीं आता, जो रूप तुमको सुन्दर लगता है, उसे मन में सोचो। सुन्दर भोजन, कपड़े की कल्पना करो। तब लगेगा, यह एकादशी ठीक है। परन्तु इससे बाह्य विषयों से वितृष्णा होती नहीं। इसलिये ज़रूरी है कि बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाकर अपनी तरफ दृष्टि ले जाओ, उस हृदय की तरफ दृष्टि ले जाओ जहाँ परमशिव साक्षात् बैठे हैं।

इन्द्रियों का आधार छोड़ना ही पड़ेगा। इसके बिना सुख मिल ही नहीं सकता। रूप, रंग, रस आदि आधारों के बिना सुख का जिसको निश्चय हो गया, उसको कोई कठिनाई नहीं होगी। जैसे-जैसे वह अपने मन को अन्दर ले जाने लगा, वैसे

अपने अन्दर का सुख प्रकट होने लगा। सुख तो अन्दर भरा ही है, प्रकट नहीं हो रहा है क्योंकि वृत्तियाँ बाह्य विषयों की तरफ जा रही हैं। सुख को आना नहीं है, वह तो अपना स्वरूप है। क्योंकि जिस मन में उसे प्रकट होना है, वह अन्यत्र-सर्वत्र जा रहा है इसलिये सुख-रूप परमेश्वर को विषय कर नहीं पाता। उधर से इधर मन लगाने से ही काम होगा। भगवान् शंकर के यह बतलाने पर जैसे-जैसे वृत्ति अन्तर्मुख होती गई, वैसे-वैसे सुख की स्फुरणा बनती चली गई।

वृत्ति के विषयों से हटने पर सुख का स्फुरण होता है। हम सभी को यह सुषुप्ति में होता है। वहाँ मन किसी भी इन्द्रिय के द्वारा किसी भी विषय को ग्रहण नहीं करता। किसी *चीज़* का अनुभव नहीं कर रहा, तो वहाँ पर सुख है। वह सुख किसी *चीज़* का नहीं है क्योंकि वहाँ चीज़ ही नहीं है। जाग्रत् स्वप्न में विषय है तो दुःख है। गहरी नींद में विषय नहीं है तो सुख है। विषय इसलिये सदैव दुःख के ही कारण होते हैं, सुख के कारण होते ही नहीं। इस ज्ञान से विषयों की तरफ जाने वाली क्रिया मनुष्य की छूटने लगती है। इसी को कहा 'ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः।'

●

अभ्यास

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्र का विचार चल रहा है। परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर,

किस इच्छा से, कामना से संताप उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति करे! इस अपरोक्ष तत्त्व के साक्षात्कार के लिये जिस वित्त की आवश्यकता है उसका विचार किया। जो कूटस्थ, चिदाभास से भिन्न है, उसको प्राप्त करने योग्य वित्त का निरूपण किया। वित्त में पहले वैराग्य चाहिये। प्रश्न होता है कि यह वित्त प्राप्त हो भी गया, कूटस्थ और चिदाभास के अन्तर को समझ भी लिया, परन्तु इतने मात्र से निरन्तर, कूटस्थभाव का निश्चय क्यों नहीं बना रहता? इसका कारण है—

'बहुजन्मदृढाभ्यासाद् देहादिष्वात्मधीः क्षणात्।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥'
(तृप्ति. १०३)

आचार्य विद्यारण्य कहते हैं, यदि ग़लत पहाड़ा दीर्घ समय तक याद हो गया, फिर यदि सच्चा पहाड़ा समझा भी दिया गया, तो भी ग़लत पहाड़ा फिर से मुँह पर आ जायेगा। यही बात वर्णन्यास के ग़लत अभ्यास से हो सकती है। कारण है कि लम्बे समय तक ग़लत अभ्यास कर लिया है। प्राचीन काल में दिशाओं की बड़ी आवश्यकता होती थी। आज-कल दिशा का ज्ञान ही सीमित है। किसी स्थान पर जाने के लिये दिशा प्रधान होती थी, दायाँ-बायाँ नहीं। लम्बे समय तक यदि ऐसे मकान में रहो जिसका दरवाजा पूर्व में खुलता है तो नये मकान में जाने पर अभ्यासवश उसके दरवाज़े को भी पूर्व में ही मान लेते हो, जबकि दरवाज़ा पश्चिम में है। पता लग जाने पर भी कई बार भूल होती है। कोई भूल भी यदि दीर्घ काल तक करते हो तो वह

आदत बन जाती है। इसी प्रकार अपनी वास्तविकता को तो भूले हुए अनादि काल बीत गया। अनेक शरीरों से निकले। अनेक विषयों का सेवन किया, सर्वत्र अपने को कर्ता-भोक्ता ही मानते रहे। बचपन से मरते समय तक यही रहेगा कि तुमने अच्छा किया या खोटा किया। सामान्य शास्त्रों में यही आयेगा, 'ऐसा करना, ऐसा मत करना।' इस जन्म में भी यही संस्कार पड़ा कि तुम करने वाले हो। लोग प्रायः यही प्रश्न भी करते हैं कि हम क्या करें? रात-दिन हम यह संस्कार बनाते हैं 'मैं करने वाला', दूसरे भी और सामान्य शास्त्र भी यही संस्कार डालते हैं, 'तू करने वाला'। अतः यह संस्कार हो जाता है। जब यह उपदेश मिलता है 'तू कर्त्ता-भोक्ता नहीं' तब विचित्र परिस्थिति आती है, आदमी कहता है कि 'महाराज, मेरा कर्तापना तो हट गया, क्या करूँ कि यह कर्तापना फिर न आवे? क्या करूँ जिससे यह स्थिर हो जाये?' कर्ता बनकर ही फिर कर्ताभाव से छूटना चाहता है। इसलिये आचार्य विद्यारण्य कहते हैं कि बहुत जन्मों के दृढ देहाभ्यास के कारण शरीर में फिर आत्मबुद्धि होती है, शरीर से मन-प्राण आदि भी समझ लेना, उनमें 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि फिर उदय हो जाती है। ऐसी बुद्धि आने से पुनः संसार सत्य लगने लगता है।

इसका रहस्य सीधा है। आत्मा की सत्यता के विषय में कभी सन्देह हो नहीं सकता। वह ज्ञात है—'मैं हूँ'। सब चीज़ों के बारे में सन्देह हो सकता है, आँख से देखने पर भी सन्देह हो सकता है, सुनने पर भी सन्देह हो सकता है। सब चीज़ों के विषय में सन्देह हो सकता है, पर 'मैं हूँ' के विषय में कभी

सन्देह होता नहीं। यह संशयरहित ज्ञान है। अत: 'मैं' की सत्ता के बारे में कभी सन्देह उठ सकता नहीं। आत्मा की सत्यता निर्भ्रान्त सत्यता है। इसलिये जैसे ही शरीर में 'मैं-बुद्धि' आई, वैसे ही शरीर की सत्यता जाति के जो व्यावहारिक पदार्थ, उनमें सत्यत्व बुद्धि भी आ गई। शरीर की समान सत्ता वाली चीज़ों में, शरीर की सत्यता आते ही झट सत्यता आ जाती है। पुराने संस्कारों के कारण, बार-बार शरीर में 'मैं-बुद्धि' का उदय हो जाता है। ऐसा होते ही जगत् भी सत्य दीखने लगता है।

जिज्ञासा होती है कि यह अब मिटे कैसे? अभ्यास पुराना है। अभ्यास को अभ्यास ही मिटायेगा। यदि हिज्जे (spelling) ग़लत लिखते हो तो अध्यापक सही हिज्जे सौ बार लिखवाता है या पहाड़े के लिये दूसरे अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। पहला अभ्यास बिना जाने किया था, यह अभ्यास जान कर कर रहे हो। अत: दूसरा अभ्यास पहले अभ्यास को जल्दी काट देता है क्योंकि सही ज्ञान करा दिया, अर्थ के अन्तर को बता दिया। बिहार के लोग शंकर को संकर बोलेंगे। यदि यह बता दो कि संकर का मतलब होता है दो भिन्न जाति वालों के विवाह से उत्पन्न सन्तान और शंकर का मतलब है कल्याण करने वाला, तब समझ आयेगा कि संकर उच्चारण से गाली हो जायेगी, पाप लगेगा। इस अर्थभेद को जब जान लिया, तब बोलने में तुरन्त सावधानी आ जाती है। इसी प्रकार समझना है कि मैं शरीर, मन, कर्ता, भोक्ता बनता हूँ, तभी जन्म-मरण के चक्र में पड़ता हूँ। अनादि काल से चला यह चक्र कभी समाप्त होता नहीं। इसीलिये महाभारत में कहा—

'योन्यथासन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते ।
किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।।'

जो शुद्ध परमात्मतत्त्व, सारे दोषों से रहित, उसको जीव दोष वाला समझता है। आत्मा का स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध, जीव उस आत्मा को मानता है अनित्य, अशुद्ध, अबुद्ध। आत्मा का स्वरूप तो नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभाव है, उसको अन्यथा समझता है। ऐसे व्यक्ति ने समझो सारे पाप कर लिये! मुख्य पाप है—शुद्ध आत्मतत्त्व को अशुद्ध समझ कर बैठ जाना। एक बार अशुद्ध समझ लिया तब शुद्धि का प्रकार ही बच नहीं जाता। जब आपने आत्मा को ही कह दिया 'मैं पापी गृहस्थ में फँसा हुआ', तो बाकी का क्या हाल बनता है! यदि कहेगा कि 'मन खराब है', तो आगे सुधार सकता है। यदि *तुम* ही खराब हो गये तो बाकी शरीर-मन कैसे सुधरेगा? यदि मैं ही खराब हो गया तो आगे सुधरने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। तलवार की धार कितनी भी तेज़ हो, यदि उसे चलाना ही नहीं आता तो परिश्रम बेकार है। यदि *तुम* ही पापी हो गये तो सुधार किससे हो? यदि वासना के कारण से पाप है, तो वासना को हटाया जा सकता है। यदि तुम्हारी ख़राबी किसी कारण से है तब तो उसे ठीक कर लेंगे। वह कारण दूर हो जायेगा, तो तुम ठीक हो जाओगे। किन्तु यदि तुम खुद ही ख़राब हो गये तो फिर क्या किया जाये? आत्मा को स्वभाव से ही जो बुरा समझ लेता है, महाभारत कहता है कि उसे पाप से बचाने का कोई उपाय नहीं है। यदि तुम कहो कि 'हम धन की कमी के कारण चोरी करते

हैं', तब तो उपाय है कि श्रीसूक्त की आहुति दो, धन मिल जायेगा। यदि तुम कहो कि 'चोरी करने का मेरा स्वभाव है', तब क्या उपाय है? बारह सौ रुपये रोज़ का देकर बड़े होटल में रहता है, खाने का खर्च अलग, उसके पास धन की तो कोई कमी नहीं है लेकिन उसी होटल से साबुन की टिक्की चुरा लाता है! कहते हैं कि ऐसे चोरी करने से मज़ा आता है। इस स्वभाव के बदलने का क्या तरीका है? गरीबी के कारण कोई चोरी करे तो आगंतुक कारण हुआ। जब करोड़पति चोरी करता है तब क्या उपाय बताया जाये! उसके लिये कोई भी अनुष्ठान काम नहीं करेगा। यदि किसी शरीर या सामाजिक कारण से कोई बुराई करते हो तो उस कारण को दूर कर सकते हो, परन्तु जब तुम कहते हो 'मैं पापी हूँ' तब तुमने सुधार का रास्ता बन्द कर दिया। इसलिये महाभारत कहता है कि 'उसने कौन-सा पाप नहीं कर लिया', अर्थात् सबसे बड़ा पाप कर लिया क्योंकि आत्मा का ही अपहरण कर लिया। ग़लती का अभ्यास पड़ा है, मान लिया, पर जब यह मान लेते हो कि मैं हूँ ही ग़लत, तब सारी ग़लतियों का रास्ता खोल देते हो।

जब कहते हो कि 'मैं पापी हूँ' तब तुम किसको गाली दे रहे हो? उस नित्य शुद्ध परमात्म-तत्त्व को गाली दे रहो हो। क्यों गाली दे पा रहे हो, गाली देने में समर्थ क्यों हो रहे हो? इसीलिये क्योंकि अतिशय प्रेम के कारण वह आत्मतत्त्व तुम्हारे हृदय में बैठा है! सारे जगत् में जिस प्रकृति का खेल है उसी का तुम्हारे शरीर-मन-बुद्धि में भी खेल है। जीव के हृदय में परमात्मा प्रेम से आकर बैठ गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है

कि वह सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म तुम्हारे हृदय में प्रेम से बैठ गया है, उसी से तुम्हारे अन्दर चेतना का प्रकाश है और तुम हो कि उसे गाली दे रहे हो!

विद्यापति भगवान् शंकर के भक्त थे। वह मन्दिर उनके गाँव में अब भी है जहाँ वे उपासना करते थे। एक बार एक पन्द्रह साल का बच्चा आया, कहने लगा 'मैं आपके घर नौकरी करना चाहता हूँ।' उन्होंने कहा 'यह गरीब ब्राह्मण का घर है, किसी सेठ के यहाँ जा।' उसने कहा 'रख लो, मुझे तन्ख्वाह चाहिये ही नहीं। केवल एक समय ही दो रोटी खा लिया करूँगा।' उनकी पत्नी भी प्रसन्न हुई कि सुविधा हो जायेगी। रख लिया। एक दिन विद्यापति पंडिताई के लिये दूसरे गाँव गये। गर्मी थी। नौकर का नाम उगना था, उससे पानी लाने को कहा। उगना दो मिनट में ही पानी लेकर आ गया। विद्यापति ने देखा कि ठंडा पानी है। पिया तो उसमें गंगाजल का स्वाद था। पूछा 'जल कहाँ से लाया है, दिखा, कहाँ से लाया?' उगना ने कहा, 'क्या करोगे देखकर, यहीं से लाया हूँ।' नहीं माने तो दिखाया कि उसी के सिर की जटाओं में गंगा की धारा बह रही थी। विद्यापति चरणों में गिर पड़े। भगवान् कहने लगे 'तेरे से प्रेम था, इसलिये तेरे घर काम पर आ गया। पर इसे किसी को प्रकट नहीं करना।' भगवान् की लीला समझ से परे होती है। घर आये। सारा दिन उगना को पुकारने लगे। पत्नी को द्वेष हो गया, वह उसे कष्ट देने और डाँटने लग गई। एक बार जलती लकड़ी से उसे मारने दौड़ी। विद्यापति ने डाँट कर कहा 'क्या साक्षात् शंकर को मारेगी?' शंकर नाम लेते ही उगना गायब हो गया!

प्रार्थना करने लगे कि 'वह दिन अब कब होगा जब उगना मुझे फिर मिलेगा।' विद्यापति के प्रेम के कारण शंकर उसके घर में आये, उसकी सेवा करते थे। पत्नी के कारण उनका विरह हो गया।

इसी प्रकार हमारे हृदय और प्रकृति के संसार में, ऐसे इस जड जगत् में प्रभु ने प्रेम करके वास किया। बैठ कर तुम्हारी सेवा कर रहा है। तुम्हारे सभी ज्ञानों को वही करता रहा है, सारी तुम्हारी क्रियायें भी उसी के कारण हो रही हैं। उसके बिना तुम पत्थर समान ही हो। परमात्मा तुम्हारे में बैठा है, यही तुम्हारी विशेषता है। उसके होते हुए ही तुम्हारा लड़का तुमको चरण-स्पर्श करता है और उसको पुण्य होता है। जैसे ही वह ज्ञान तत्त्व निकल जाता है, तब छूकर नहाना पड़ता है। दस दिन तक अस्पृश्य रहते हैं। माता-पिता का शरीर वही है, परतत्त्व निकल गया। इसी के होने से शरीर शिवरूप था। तुम्हारे ज्ञानक्रिया का कारण ही आत्मतत्त्व है। उसी से सब हो रहा है। उसी को तुम पापी कह देते हो, कितना बड़ा दोष लगता है! शास्त्र तुमको बतला रहा है, तुम्हारे अन्दर वह आत्मतत्त्व बैठा है। पर बुद्धि रूपी पत्नी इस बात को धारण नहीं करती। वह शरीर मन को ही महत्ता देना चाहती है। बुद्धि को यदि ठीक नहीं किया गया तो प्राप्त किया गया उगना हाथ से चला जाता है। अतः शास्त्र कहते हैं कि बुद्धि को नियन्त्रण में रखो। यदि इसे नियन्त्रण में रखा, बुद्धि को उस परमात्म-तत्त्व पर दोष न देने दिया, तो ही काम होगा। इसके लिये बार-बार बुद्धि से अभ्यास करना है।

'तच्चिन्तनं तत्कथनम् अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।।'
(७.१०६)

बार-बार बुद्धि को उस आत्मतत्त्व के चिन्तन में लगाओ, मन में संस्कार डालो। बोलने में भी दोष न होवे। जो तुम संस्कार डालोगे वह दृढ हो जायेगा। यदि बार-बार बुद्धि में कहो कि 'मैं बुरा', तो वैसे ही संस्कार पड़ते जायेंगे। बुद्धि बुरा कार्य करने लगेगी। वास्तव में मैं को तो कभी दोष प्राप्त होता नहीं। मैं और बुद्धि का तादात्म्य सम्बन्ध होकर जो-जो तुम चढ़ाओगे वे सारे संस्कार बुद्धि में आ जायेंगे। 'मैं पापी हूँ' ऐसा कहोगे तो अच्छे भले हो तो भी पापी बन जाओगे। अतः जब दूसरे को भी आत्मा के बारे में कहो, तो भी बहुत समझ कर। दूसरा भी कहे कि 'मैं पापी हूँ' तो याद दिलाओ कि 'किसके बारे में कह रहे हो? तेरा शरीर-मन-बुद्धि पापी हो सकता है, परन्तु तू कहाँ से हो सकता है!' यही ब्रह्म का अभ्यास है। इससे मैं कि जो अशुद्ध रूपता का ग़लत अभ्यास पड़ गया है वह हट जायेगा, शुद्ध रूप प्रकट हो जायेगा। वित्त प्राप्त करने के बाद भी जो भेद रहता है, इसको हटाने का तरीका यह अभ्यास ही है।



मिथ्यात्वबोध

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के श्लोक की व्याख्या चल रही है। परमात्म-तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो

जाने पर, किस इच्छा और किसकी कामना से, संतप्त करने वाली प्रवृत्ति हो! अपरोक्ष आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से जगत् के अन्दर मिथ्यात्व का निश्चय होता है। कर्ता-भोक्तापनेका अपने स्वरूप में अभाव है, यह मिथ्यात्व-निश्चय है। आत्मतत्त्व का चैतन्य रूप से भिन्न और किसी प्रकार का रूप सिद्ध होता नहीं। इस प्रकार का निश्चय रहते हुए कोई भी प्रवृत्ति, बाधक होती नहीं, और इस निश्चय के अभाव में प्रवृत्ति हो या निवृत्ति हो, बाधक ही होती है। कामना हमेशा ज़ोर पकड़ती है जब सामने वाले पदार्थ को सत्य समझते हो। कामना असत्य चीज़ से बड़ी जल्दी निवृत्त होती है। जैसे मार्ग में जाते समय कभी गन्धर्व नगर दिखाई देता है। बालू पर सूर्य-रश्मि पड़ने के कारण ऐसा लगता है कि कोई नगर है। मन में आता है, 'देखना चाहिये, कौन-सा नगर है'। पर साथ वाला बतला देता है कि यह गन्धर्व नगर है, वहाँ कोई नगर नहीं है। किला दीख रहा है, मन्दिर का कलश भी है, मन्दिर है, देखता सभी है पर उधर जाता नहीं। अथवा कोई बाजीगर खेल दिखाता है, सौ रुपयों की गड्डी भी दिखला देता है। कहता है 'इस गड्डी को लेकर एक सौ रुपया का नोट ही दे दो।' तो क्या तुम दोगे? जानते हो कि यह केवल दीखता है, कुछ है नहीं। जैसे ही खेल ख़त्म होगा वहाँ कुछ रहना नहीं है। इसलिये हँसते रहते हो, कहोगे 'मैं देने वाला नहीं, चार आना ले ले। खेल बढ़िया दिखाया।'

एक बार की बात है; बच्चे एक सड़क-चलते बुड्ढे को परेशान कर रहे थे। उसने उनको मना किया, पर नहीं माने। वहाँ एक पुलिस वाला था। उसने कहा 'इन लड़कों ने मेरी चार

गिन्नियाँ जेब से चुरा ली हैं। लड़कों ने कहा 'बुड्ढा झूठ बोल रहा है।' उसने एक बच्चे की जेब की तरफ इशारा कर कहा 'इसमें है एवं अमुक वर्ष की गिन्नियाँ हैं।' और जेब से चार गिन्नियाँ निकल आईं! बच्चों के होश उड़ गये कि यह क्या हो गया! बुड्ढे से माफी माँगने लगे। बुड्ढे ने पुलिस वाले से कहा 'ये अब माँफी माँगते हैं, इनको छोड़ दो।' पुलिस वाले ने कहा 'यह फौजदारी का मामला है, ऐसे कैसे छोड़ दूँ?' बुड्ढा बोला 'अरे! गिन्नियाँ हैं कहा?' सिपाही ने अपनी जेब टटोली तो खाली थी। वह भी हक्का-बक्का रह गया। तब बुड्ढे ने पुलिस वाले से कहा 'यह तो इन्द्रजाल है, न कहीं गिन्नियाँ हैं, न कोई बात है।'

इसी प्रकार संसार के जितने पदार्थ हैं, जानकार जानता है कि वे दीखते ही हैं, वहाँ वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जैसे गन्धर्व-नगर दीखता है, सौ-सौ के नोटों की गड्डियाँ, गिन्नियाँ दीखती हैं, लेकिन है कुछ नहीं, इसी प्रकार संसार के पदार्थ दीखते हैं, पर विचार कर देखो तो कुछ भी नहीं हैं। विज्ञान की दृष्टि से भी पदार्थ जैसा दीखता है वैसा नहीं है। लोहे की छड़ को भी यदि खुर्दबीन के द्वारा देखोगो तो सर्वत्र उसमें पोल दीखेगी। लोहे के कणों के बीच में खाली जगह होती है। पानी की मटकी बिलकुल ठोस दीखती है। पर पानी भरने से बाहर की तरफ पानी आ जाता है। यदि ठोस होती तो पानी कैसे बाहर आता? बीच में सूक्ष्म छिद्र, पोल है। पदार्थ जैसा दीखता है वैसा दूसरी तरह से सिद्ध होता नहीं। अतः एक वैज्ञानिक का कहना है कि सारी पृथ्वी में स्थित पदार्थों के मध्य स्थित पोल

को हटाकर केवल पदार्थ जमा कर दिया जाये, तो एक गेंद-समान ही माल होगा। जबकि पृथ्वी इतनी विस्तृत दीख रही है। सूक्ष्म दृष्टि वाले कहते हैं, जिसको तुम इतना ठोस कहते हो, उसमें ठोस नाम की कोई चीज़ नहीं है। यह सारा संसार आकाश से उत्पन्न हुआ है, इसमें सिवाय आकाश के और कुछ है ही नहीं, जो चीज़ जैसी दीख रही है, वैसी नहीं है। यह बात प्रमाण से भी सिद्ध हो रही है। मिथ्या का मतलब ही है कि जो चीज़ जहाँ जैसी दीख रही है, वह चीज़ वहाँ वैसी न हो। तुमको साँप दीख रहा है। वहीं प्रकाश के आने पर वहाँ साँप का नामनिशान नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि दीखते समय भी साँप नहीं था। लोग कह देते हैं कि यह तो अँधेरे के कारण हो गया। पर जहाँ तुमको ठोस मटकी दीख रही है, वहीं पर ठोसपना नहीं है। जहाँ जो चीज़ दीख रही है, वहीं उस चीज़ का वैसा न होना, यह मिथ्या का लक्षण है। यह संसार के यावत् पदार्थों के अन्दर है।

इस बात को जानने वाला, चीज़ वास्तविक नहीं है—इस निश्चय के कारण देखता है पर जानता है कि लेने जायेंगे तो मिलेगा कुछ नहीं। बच्चे साबुन का बुलबुला बनाते हैं, पर वहाँ वस्तु है ही नहीं। झट वह फूट जाता है, कुछ भी नहीं रहता है। इसी प्रकार संसार के पदार्थ हैं। दीखते काल में सच्चे प्रतीत होते हैं। जब दीख रहे हैं, उस समय वहीं नहीं हैं। इसलिये ज्ञानी की उस तरफ कभी प्रवृत्ति होती नहीं। बढ़िया से बढ़िया जो रमणीय चीज़ दीखती है, वह जानता है उसमें कुछ तत्त्व नहीं है। विचार नहीं करो, तब तक रमणीयता दीखती है। पर विचार करो तो वहाँ कुछ भी रमणीय नहीं है। भोजन के सारे पदार्थ गन्दे जल

में होते हैं। फूलगोभी की रमणीयता गन्दे-पानी के खेत में देखो तो समाप्त हो जाती है। कारण की दृष्टि में कुछ रमणीय नहीं है। खाने के बाद गोभी क्या बन जायेगी? वहाँ भी कुछ रमणीय नहीं है। कारण से ही कार्य उत्पन्न हुआ, कारण और कार्य अभिन्न हैं। कारण गन्दा, तो कार्य रमणीय कहाँ से! मनुष्य की सुन्दर आँखें हैं, परन्तु यदि पास जाकर देखो, तो आँख में जो चमड़े, पलक वाला हिस्सा है उसमें क्या कोई रमणीयता है? उसकी रक्त की धमनियों में क्या रमणीयता है? सच्चाई देखो तो सुन्दरता गायब हो जाती है, शरीर के अलग-अलग अंगों का विचार करो तो कोई सुन्दर नहीं लगेगा।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि परमेश्वर के पास कोई सोने-चाँदी हीरों की कमी नहीं है। लेकिन जिन सोना-हीरा को हम कीमती समझते हैं, उनको परमेश्वर ने गहरी ज़मीन में गाड़ रखा है। खानें गहरी खोदो तो वे मिलें। मनुष्य का शरीर, जो सबसे सुन्दर माना जाता है, उसमें प्रवेश कर देते, बजाय गाड़ने के। परन्तु मन को उपरामता देने वाला, घृणा देने वाला माल शरीर में भरा। वसा, खून, कफ आदि कोई चीज़ ऐसी नहीं जो सुन्दर हो। इन चीज़ों से मनुष्य शरीर का निर्माण किया जिससे मनुष्य इनके मोह में न पड़े। जब शरीर का निर्माण हो गया तो भगवान् ने विचार किया कि यह मनुष्य बड़ा दुःखी हो जायेगा। उसके मांस आदि पर चील, कौवे, कुत्ते, सियार, लपटेंगे खाने के लिये। ईश्वर ने दया कर इस पर एक पतली झिल्ली चढ़ा दी। इसी चमड़ी को देख मनुष्य अन्दर के पदार्थों को भूल जाता है, उसी के मोह में पड़ गया है। ईश्वर ने जो सोना-हीरा दबा कर

रखा था उसको मोहवश बाहर निकाल लाता है। अपने शरीर में जो पदार्थ हैं उनको कभी देखने का प्रयत्न करता नहीं कि इसमें क्या रमणीयता है। शास्त्रकार कहते हैं, जब इस बात को जान लेता है, कि जहाँ तुमको शरीर में सुन्दरता दीख रही है वहीं सुन्दरता, रमणीयता नहीं है। जैसे-जैसे यह निश्चय होता जाता है, वैसे-वैसे उन पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति की सम्भावना कम होती जाती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि आदमी को ज़ोर से भूख लगी हो, उसके सामने लड्डू रख दो पर कह दो 'इसमें जहर है, खाते ही मर जाओगे', तो क्या वह खायेगा? भूख से पीडित व्यक्ति भी ज़हर खाने की इच्छा नहीं करता। जिसने डट कर खाया है, पेट में और जगह नहीं है, उससे कहो कि यह जहर का लड्डू है खा लो? तो खायेगा क्या? कभी खा नहीं सकता। संसार के जितने पदार्थ हैं उनमें जिसे मिथ्यात्व दर्शन है, उसको उधर दौड़ने की प्रवृत्ति होती नहीं है। जानता है कि दूर से ही सुन्दर दीखता है, पास से कुछ और है। सभी पदार्थों के प्रति उसका यह निश्चय बना रहता है। अज्ञानी व्यक्ति स्वयं को हर अच्छी चीज़ के काबिल समझता है, मानता है कि भगवान् अन्याय करते हैं। ऐसा नहीं है कि परमेश्वर को पता नहीं है कि कौन योग्य है! मनुष्य सोचता ही नहीं है कि मेरे लिये किस समय क्या करना योग्य है, किस समय क्या अयोग्य है। आचार्य शंकर लिखते हैं, 'वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं' वृद्ध हो गया, डंडे के सहारे चल रहा है, फिर भी अनेक आशाओं को अपने मन में पाले रखता है।

सुकृष महर्षि सत्यादि सदाचार में निष्ठा वाले महान् तपस्वी थे। एक बार देवराज इन्द्र उनकी परीक्षा लेने पक्षीरूप धारण कर आया और उनसे नरमांस की याचना की। ऋषि के चार पुत्र थे। सुकृष महर्षि ने चारों पुत्रों को बुलाया। पुत्रों ने पूछा 'आप आदेश करें।' कहा 'यह पक्षी आया है, इसको मनुष्य का मांस खाना है। तुम लोग इसे खाने को दो।' चारों पुत्र एक दूसरे की तरफ देखने लगे। संसार में प्राण सबसे अधिक प्रिय होते हैं। वे बोले 'यह सम्भव नहीं है, बाकी और सेवा हो तो बतावें।' उन्होंने शाप दिया कि 'यदि पक्षी के लिये भोजन नहीं दिया तो अगले जन्म में तुम भी पक्षी ही होगे।' सुकृष ने इन्द्ररूप पक्षी से कहा 'तुम मुझे खालो, मैं सभी कर्मों से अब मुक्त हूँ।'

ब्राह्मण का स्वरूप यही है कि परमेश्वर में उसकी भक्ति बनी रहे और सत्य का परिपालन करता रहे। इन्द्र ने अपना स्वरूप प्रकट किया, कहा 'मैं अब तुम्हें आत्मज्ञान देता हूँ। वेद में सत्य को पारमात्म-प्राप्ति का एक अमोघ साधन बतलाया है। इसका एक बड़ा कारण है। परमात्मा सत्यरूप है। संसार मिथ्या है। एकमात्र परमेश्वर ही सत्य है। जिसमें सत्य-प्राप्ति की अभिलाषा होगी, वही सभी पदार्थों को छोड़ कर ब्रह्म का अन्वेषण करेगा, उसकी तरफ जायेगा। जिसे सत्य-प्रेम नहीं है, वह मिथ्या पदार्थों को ही पकड़ता रहेगा। उन्हीं को अपना सर्वस्व समझता रहेगा। वह तो सत्य को भी मिथ्या के लिये ही प्रयोग करेगा। इसीलिये आज मनुष्य यही कहता है 'महाराज! सत्य बोलने से काम चलता नहीं' अर्थात् रमणीय चीज़ें

मिलती नहीं। जब सत्य की तुमको अभिलाषा ही नहीं है, तब सत्य की प्राप्ति कहाँ से होनी है! उसकी सत्यपरायणता ही देख कर इन्द्र ने उसे ब्रह्मज्ञान दिया। जो सत्यरक्षा के लिये अपने जीवन का भी मोह छोड़ देता है, वही मोक्षयोग्य है। आचार्य कहते हैं 'प्राणात्ययेऽपि ते सत्यं न त्यजन्ति तेषामेवैषा ब्रह्मविद्या'। जो प्राण के निकल जाने पर भी सत्य को नहीं छोड़ते, उन्हीं के लिये यह ब्रह्मविद्या प्रकाशित होती है। इन्द्र उसे विद्या देकर चला गया। चारों पुत्र अब क्षमा माँगने लगे कि 'हमने प्राणमोह से ही इस प्रकार का व्यवहार किया।' महर्षि कहने लगे 'संसार में सब कुछ दैव-इच्छा से ही होता है। सभी प्राणियों की चेष्टायें दैव के अधीन हैं। मानव प्रवृत्ति ईश्वर-इच्छा के अनुरूप ही होती है। संसार में कोई ऐसा नहीं है जो कभी न कभी इष्ट और अनिष्ट पदार्थों को प्राप्त न करे। मार्ग में रुकावट न आवे—ऐसा होता ही नहीं। मैंने जो शाप दिया, इसके पीछे भी परमेश्वर की इच्छा ही काम कर रही है। ईश्वर के अलावा कोई कुछ करता ही नहीं है। मेरा शाप झूठा तो नहीं होगा। पर तुमको पक्षी शरीर में ही ज्ञान की प्राप्ति होगी। यह मैं आशीर्वाद देता हूँ।' सुकृष महर्षि अपने शरीर को छोड़ने को तैयार हो गये, क्योंकि जानते थे कि इस शरीर में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो सत्य को छोड़कर रक्षा के योग्य हो। पुत्रों को यह मिथ्यात्व-ज्ञान नहीं था। वे समझते थे कि संसार में सभी कुछ प्राणों से ही प्राप्त हो सकता है, शरीर रहने से ही प्राप्त हो सकता है।

सुकृष शब्द का अर्थ होता है, अच्छी खेती करने वाला। जो जीव अच्छी खेती करता है उसे ही सुकृष कहते हैं। हम अपने शरीर में खेती ही तो करते रहते हैं। कर्म का बीज बोते हैं, फिर उससे सुख-दुःख का फल लेते हैं। जो सुकृष है, जिसने कर्म के साथ विचार का बीज भी बो दिया, परमेश्वर की भक्ति, प्रेम और सत्यपालन का बीज भी बोता है, उसी को उत्तम फसल मिलती है। परमेश्वर सारी सृष्टि का कारण है। जैसा वह संसार को चलाता है, चलाता रहे, अपने हस्तक्षेप को नहीं सोचना है। यह शिवभक्ति है। इस मिथ्या जगत् में जो परमात्मा है, उसको ढूँढना है। परमात्मा जो करता है उस पर हम कहते हैं 'ऐसा क्यों हुआ?' इसी से परेशान हैं। परमात्मा को देखने की इच्छा नहीं। अपने शरीर मन आदि को उसके अधीन करते नहीं, भक्ति करते नहीं, सत्य का पालन करते नहीं। यह मांस अर्थात् मैं ही हमको सबसे प्रिय है। शरीर से मैं भिन्न हूँ, इसको जानने के लिये ही तैयार नहीं। सुकृष ने कहा 'मुझे सत्य परमात्मा चाहिये, यह मांस वाला शरीर नहीं चाहिये।' जब वह इस मांस शरीर को अलग कर लेता है तब गुरु उसको ज्ञान देते हैं। विचार से जब वह पदार्थों से निवृत्त होता जाता है तब विपरीत बुद्धि किसी काल में उत्पन्न होती नहीं। ऐसा मिथ्यात्व-ज्ञान रहने पर सामान्य व्यवहार कैसे चलेगा इस पर आगे विचार करेंगे।

●

प्रारब्ध-भोग

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्र की व्याख्या चल रही है। यदि उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व का आत्मस्वरूप से अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया, तो किस इच्छा से, किसकी कामना से, संताप करने वाली प्रवृत्ति हो? संसार के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर, जैसे भरे पेट वाले व्यक्ति की जहर वाले लड्डू को खाने की इच्छा नहीं होती, वैसे ही, विषय को असत्य समझने वाले व्यक्ति की उस तरफ प्रवृत्ति नहीं होती।

प्रश्न होता है कि जीवन के कार्य चलने के लिये, विषयों की तरफ प्रवृत्ति आवश्यक है। शरीर आदि कल तक रह नहीं सकते, जब तक मनुष्य प्रवृत्ति न करे। यदि प्रवृत्ति नहीं करेगा तो भोजन आदि भी न करने के कारण, शरीर रहेगा नहीं। शरीर की आयु एवं भोग जन्म से पूर्व ही निश्चित हो जाते हैं। मनुष्य को इस शरीर से क्या भोगना है, कब तक जीना है—यह शरीर की उत्पत्ति से पहले निर्णीत है। ज्ञान होगा, शरीर होने के बाद। शरीर हो तभी साधना करोगे। अत: ज्ञान होने से पहले शरीर का प्रारब्ध निर्णीत होगा। इस शरीर को क्या भोगना है यह परमेश्वर ने संकल्प कर दिया। परमेश्वर का यह संकल्प कोई बदल सकता नहीं। यह परमेश्वर का सत्यकाम संकल्प है, इसे कोई बदल नहीं सकता। जन्म से पहले परमात्मा का संकल्प हो गया कि इस शरीर से यह भोग, इतने समय तक भोगना है। क्या ज्ञान इतना प्रबल है कि परमेश्वर के संकल्प को काट दे? शास्त्रकार कहते

हैं कि ज्ञान परमेश्वर के संकल्प को नहीं काटता, बल्कि ज्ञानी परमेश्वर को अपना असली स्वरूप समझता है, इसलिये उसके मन में परमेश्वर के संकल्प को अन्यथा करने की बात भी नहीं आती। साधारण जीव तो परमेश्वर के संकल्प को बदलने की इच्छा भी कर लेता है। कोई उनको उपाय बतावे तो उपाय में भी लग जाता है। पर ज्ञानी परमेश्वर से अभिन्न होने के कारण, परमेश्वर के संकल्प को बदलने की इच्छा भी कैसे करे! इसलिये ज्ञान प्रारब्ध को नष्ट नहीं करता, क्योंकि वह उस परमात्मा का संकल्प है, जिस स्वरूप को हमने प्राप्त किया। इसलिये प्रारब्ध कर्म के कारण, प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है। कल बतलाया था, संसार को मिथ्या जान लेने से प्रवृत्ति होती नहीं, अब बतला रहे हैं कि प्रारब्ध-भोग के लिये प्रवृत्ति होती है। परन्तु कैसी होती है?

'प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवेद् यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत्॥'
(७.१४३)

प्रारब्ध का भोग भोगने के लिये विषय की तरफ इच्छा होती है तो यह भोगने में अपने को धन्य नहीं समझता। कैसे भोगता है? जैसे राजा को काम कराना होता था, तो गाँव के किसानों को बेगार में पकड़ कर बुलाते थे। उनको मिलता तो कुछ था नहीं, रोटी-खाओ और काम करो। वे बेगार का काम तो करते थे, पर प्रयत्न करते थे, कितना जल्दी पिंड छूटे। इसी प्रकार से जो अपने वास्तविक स्वरूपको समझ लेता है, वह

प्रारब्ध भोग के लिये, विषयों की इच्छा होते हुए प्रवृत्ति करता है, परन्तु जानता है, यह बेकार का काम है, इससे अपने को कुछ मिलना नहीं है। जैसे राजा का हुकुम है, मानना तो पड़ेगा ही, मिलेगा कुछ नहीं; इसी प्रकार परमेश्वर की इच्छा है, इसलिये पूरी तो करनी ही पड़ेगी। राजा तो अपने से सर्वथा भिन्न है, पर यहाँ जिसका हुकुम है, वह परमात्मा अपना वास्तविक स्वरूप है। ईश्वरेच्छा के द्वारा जब प्रवृत्ति हो रही है तब बेगारी की दृष्टि है, पर यहाँ दूसरे की भावना नहीं रहती—यह अन्तर तो है ही। बेगार में पकड़ा गया दुःखी होता ही है। क्या प्रारब्ध भोग हो तो ज्ञानी दुःखी होता है? इस संताप, दुःख को समझना ज़रूरी है। जो संसार के पदार्थों की तरफ जाने से अज्ञान के कारण कष्ट पाता है, उसको संताप कहा गया है। अतः शास्त्रकार कहते हैं—'भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः', जबकि 'नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किन्तु विरक्तता'। (७.१४५) संसार के प्रारब्ध भोगों को भोगते समय उसके मन में यह भाव रहता है, 'है तो यह काम निष्फल। बेकार, पर करना है।' इसका नाम वैराग्य है, ताप या संताप नहीं। जो भ्रम-ज्ञान से प्रवृत्ति होकर दुःख होता है वह ताप है। इन दोनों के अन्तर को नहीं समझने के कारण, आदमी वैराग्य को भी क्लेश समझ लेता है।

विचार करो, आलसी कौन है? आलस्य का लक्षण क्या है? शास्त्र कहता है, प्रातः चार बजे उठो। ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा मनुष्य के पुण्य का क्षय करती है। ब्राह्ममुहूर्त की निद्रा से

नुकसान प्राप्त करता है, इसलिये वह आलस्य है, प्रमाद है। दिल्ली में संसारी व्यक्ति रात बारह बजे तक जागते हैं, दूरदर्शन, रेडियो देखते-सुनते रहते हैं। रात्रि का सिनेमा देखते हैं। देर से सोयेंगे तो देर से ही उठेंगे। तुम यदि नौ बजे उनसे सोने को कहो तो कहेंगे 'आलसी व्यक्ति हो! यह सोने का समय नहीं है।' सोना उनको आलस्य लगता है। पर वास्तव में सबेरे चार बजे का सोना आलस्य है। रात नौ बजे का सोना आलस्य नहीं है बल्कि उचित है।उसे तो आलस्य संसारी व्यक्ति कहेगा पर आठ बजे तक सोने को आलस्य नहीं कहेगा! इसी प्रकार संसार के कामों में रुचि लेना, उसमें कष्ट सहना—इन्हें समझते हैं कि जनता के उद्धार में लगे हो, राष्ट्र के कल्याण का प्रयास कर रहे हो और संसार के पदार्थों के प्रति अनासक्ति के कारण उनको छोड़े—इसे उदासीनता कहेंगे कि जीवन को नीरस कर रहे हो! वैराग्य को संसारी कहेंगे नीरस, और राग को कहेंगे, रसवाला! संसार के पदार्थों में आसक्त होने को मनहूसी नहीं कहेंगे, उनसे अपने मन को हटाने को मनहूसी कहेंगे। प्रारब्ध के भोगों को भोगने में जो क्लेश का अनुभव है, वह तो विरक्ति ही है। 'कब संसार के भोगों का भोग समाप्त हो'—यह जो मन की वृत्ति है, इसका नाम ही वैराग्य है। यह संताप नहीं है, उसका रूप ठीक विपरीत है। संताप का स्वरूप है कि मेरा भोग निरन्तर बढ़ता जाये। गीता में भगवान् ने जो बतलाया

'इदमद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदम् अस्तीदम् अपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।'

यह है संसारिक प्रवृत्ति का रूप : 'आज मुझे यह मिल गया। कल मैं अपना मनोरथ पूरा कर लूँगा। इतना धन तो हो गया इतना और हो जायेगा। यहाँ तो जीत गया, इतना जीतना और बाकी है। कैसी मेरी सामर्थ्य, कैसी मेरी बुद्धि!' यह जो वृत्ति है, यह संसार की तरफ ले जाने वाली वृत्ति है।इसमें असफलता होने पर जो होता है, उसका नाम है संताप। अधिक धन नहीं कमा सका—इससे जो दुःख होता है, वह संताप है। इससे विपरीत है विरक्ति का स्वरूप। 'इस चीज़ की अभी मुझे आदत है, यह मुझे दुःख दे रही है, भगवत्कृपा से यह भी छूट जायेगी।' दोनों में अन्तर है। एक में—यह मिल गया, यह और मिल जाय, दूसरे में—यह छूट गया, यह और छूट जाये। जो नहीं छूटा इसका दुःख है। इसी प्रकार मैंने उस आदमी के गाली देने पर बुरा मान लिया, मुझे नहीं मानना चाहिये था। भगवान् ऐसी कृपा करे कि मन भी बुरा न माने।—इसका नाम विरक्ति है। यह विरक्ति परमात्मा के मार्ग में सहायक है। इस विरक्ति और संताप को एक जैसा समझ करके लोग कह देते हैं कि 'अरे! दुःख तो वैसा का वैसा रहा।' भ्रम ज्ञान से संसार को सत्य मान कर, पदार्थ की प्राप्ति न होने से जो दुःख होता है वह संताप है। पदार्थ से निवृत्ति की इच्छा होने पर जो निवृत्ति नहीं हो पाती है, उसमें जो क्लेश होता है वह विरक्ति है। दोनों में अन्तर क्या है? विरक्ति सुख देती है। संताप दुःख देता है। जिस चीज़ से मन हटा होता है, और किसी कारण से करना पड़ा, प्रारब्ध भोग के कारण, तो जितना कम पदार्थ तुमको भोग करने को

मिला, उतने से तृप्ति हो जाती है और जिसके अन्दर यह नहीं होता है, उसको अनन्त भोग मिलने पर भी तृप्ति होती नहीं।

जिसके अन्दर यह संसार की मिथ्यारूपता जग रही है, उसको जो थोड़ा भोग मिल गया, उसी में वह कहता है कि बहुत है, क्योंकि वह उतने को भी छोड़ना चाह रहा है और जो संसार को सत्य मानता है, उसको अनन्त भोग मिलने पर भी तृप्ति नहीं मिलती। इसलिये विरक्ति का जो क्लेश है, वह सुखद है, उसको पता है कि इससे ज़्यादा की ज़रूरत नहीं। इस प्रकार तुरन्त अलम्-बुद्धि आ जाती है। वैराग्य से युक्त जो भोग है, वह संतुष्टि का कारण होता है, और संसार-सत्यता के कारण जो भोग होता है वह संताप का कारण होता है। प्रारब्ध के कारण इच्छा होकर प्रवृत्ति तो हुई पर उस काल में भी संसार को मिथ्या समझने के कारण, उसमें भोग बढ़ाने की प्रवृत्ति नहीं होती। सांसारिक व्यक्ति को दस गुना मिल जाने पर भी तृप्ति होती नहीं। संसार को कुछ भी मिले, लगता है 'और मिला होता तो बेहतर था!' पदार्थ मिला, पर यदि किसी अन्य के पास उससे ज़्यादा है, तो वह तुम्हारी तृप्ति का कारण बनता नहीं। जो संसार के मिथ्यात्व को समझ रहा है, उसको जो मिला उसी में तृप्ति का अनुभव हो जाता है। अधिक भोग की कामना से प्राप्त भोग तृप्ति नहीं देता। एक बादशाह ने एक लकीर खींच कर कहा 'इसे छोटी कर दो बिना मिटाये।' किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने उससे बड़ी एक लकीर खींच दी तो पहली छोटी हो

गई! यदि ज़्यादा भोग की इच्छा मन में आ जाये तो प्राप्त भोग तृप्ति का कराण नहीं रह जायेगा। अभ्यास के द्वारा मन वश में हो जाता है तो अल्प भोग भी सुखदायी हो जाता है। विचारशील जानता है कि भोग्य पदार्थ स्वरूप से दुःखदायी ही है। जो संसार को मिथ्या, दुःखालय समझता है, वह प्रारब्ध के कारण प्रवृत्त भी होता है तो ऐसे कि प्रवृत्ति कम से कम हो।

प्रश्न होता है कि इच्छा को ज्ञान सर्वथा नष्ट कैसे नहीं कर देता? उत्तर है कि प्रारब्ध भोग इच्छा की अपेक्षा रखते हैं। भूख मायने खाने की इच्छा। खाने-पीने की इच्छा है तभी खाना-पीना होगा। फिर यहाँ श्रुति क्यों कहती है 'किमिच्छन्'? इच्छा दो प्रकार की होती है। तुम्हारे पास गेहूँ, चने के बीज हैं। उनको तुम बोते हो तो हज़ार गेहूँ, चने निकल आते हैं। उस चने को तुम भून लो। अब वह खाने के काम तो आ जायेगा पर आगे और उत्पन्न कर नहीं सकता। अतः चना दो प्रकार का, एक संतति को पैदा करता है, दूसरा नहीं करता है। दोनों ही खाने के काम आते हैं। दीखते भी एक जैसे हैं। पर एक आगे पैदा कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता। इसी प्रकार से प्रारब्ध से तुम्हारी इच्छा हुई खाने की। खाने को प्रवृत्त हुए। पर उस चीज़ को तुम असत्य, मिथ्या जानते हो। इसलिये खाने के काम की तो वह इच्छा है पर तुम उसे सत्य जानकर इच्छा से खाते हो तो दुबारा फिर खाना चाहते हो। इस इच्छा से आगे इच्छाओं का क्रम पैदा होता है। जब तुम उसको मिथ्या जानते हो, असत्य जानते हो,

तब खाने पर भी नई इच्छायें पैदा नहीं होती। इसलिये वह आगे व्यसन नहीं बनता। अभी तो प्रवृत्ति तुमको बार-बार उधर लगाती है लेकिन जो भुने चने की तरह है वह इच्छा असत्यता के बोध के कारण तुम्हें भोग तो करा देती है, परन्तु दुबारा करने की प्रवृत्ति देती नहीं। किसी भी चीज़ के भोग में देशादि के भेद से भेद आ जाता है। कलकत्ते में भुजिया बनाओ तो वह बात नहीं आती जो बीकानेर की सूखी हवा में आती है। भोग के प्रति देश भी कारण है। काल भी भोगने का होता है। साढ़े दस बजे भोजन का समय है, भोजन की इच्छा हुई पर बारह बजे तक भोजन नहीं मिला। दो घण्टे के बाद भूख खत्म हो गई तो खाकर भी मज़ा नहीं आता। अपनी इन्द्रिय भी कारण है। यदि जीभ जल जाये तो खाने का स्वाद नहीं आता। देश-काल, इन्द्रिय, मन और पदार्थ स्वयं कारण पड़ते हैं। कोई दुःख-चिन्ता आदि का समाचार मिल जाये तो देश-काल-इन्द्रिय-वस्तु ठीक होने पर भी भोग में सुख नहीं होता। दाल के सीरे में जो एक दिन स्वाद आता है, वह दूसरे दिन नहीं आता।

विचार करो : यदि दो चीज़ों को तुम मिलाकर रखना चाहो और उन दो चीज़ों में से एक चलती रहे, तो भी मिलाकर रखना कठिन है। यहाँ बदलने वाली चीज़ें अत्यधिक हैं। देश, काल, इन्द्रिय, मन आदि सब चीज़ें बदलती रहती हैं। जैसा आज मिला वैसा सदैव मिलता रहे—ऐसी इच्छा करना यहाँ मूर्खता है। जो इस बात को जानता है, वह कभी इस इच्छा को नहीं कर

सकता। संसार के मिथ्यात्व को जानने के कारण जैसा अब है वैसा अगले क्षण नहीं रह सकता यह संसार का स्वरूप उसे स्पष्ट रहता है। राजा रयि का सौन्दर्य अतिप्रसिद्ध था। अश्विनी कुमार उसे देखने गये। पहुँचते ही मुलाकात हुई, फिर दो घण्टे बाद मिले तो उन्हें दीख गया कि रयि बूढ़ा हो गया है। देव-चिकित्सकों की दृष्टि भी बहुत सूक्ष्म होती है। अतः उतनी देर में आया बुढ़ापा भी उन्हें दीख गया। जहाँ चीज़ प्रतिक्षण बदल रही है वहाँ यह आशा करना कि यही भोग मुझे मिले, मूर्खता है। यह सब जानने वाले व्यक्ति की प्रारब्ध के कारण, इच्छा होकर जो अल्पभोग होता है, उतने से ही सन्तुष्टि हो जाती है, उसको व्यसन नहीं होता कि वह फिर-फिर हो। अतः आगे भोग का क्रम बनता नहीं। प्रारब्ध ने भोग दिया, इच्छा हुई, लेकिन भुने बीज की तरह होने से आगे इच्छाओं का क्रम बनता नहीं, प्रारब्ध भोगने मात्र से समाप्त हो जाता है। हम लोगों का इसके विपरीत होता है : हम लोगों की इच्छा लड़ी बनती जाती है। इसलिये हम लोगों के लिये भोग अधिकाधिक अनिष्ट का कारण बनता जाता है। वही भोग उसके लिये इच्छा की लड़ी को पैदा नहीं करता, सुख लाभ देता है और समाप्त हो जाता है।

जब प्रारब्ध दुःख देने वाला आता है, तब उसके अनुकूल इच्छा को बनाना है, उसको रोक नहीं सकते। किसी को रक्तचाप या हृदय-रोग है। चिकित्सक कहता है, नमक मत खाओ। अनुभव कहता है, जब-जब नमक ज़्यादा खा लेता है, तब

तकलीफ़ बढ़ जाती है। चिकित्साशास्त्र से जान लिया, अपने अनुभव से जान लिया, कार्य कारणभाव से जान लिया कि नमक की अधिकता से रक्त भारी हो जाता है। तीनों माध्यमों से जानने पर भी नमक खाने की प्रवृत्ति होती है। होनी चाहिये तो नहीं, लेकिन होती है। जैसे एक परमब्रह्म परमात्मा के अन्दर जगत् नहीं होना *चाहिये*। संसार होने की कोई तुक नहीं है। अधिकतर लोग दुःखी, दरिद्र, बीमार हैं। यह संसार नहीं होना चाहिये था—यह तुम्हारे साथ हमारा भी मत है। लेकिन तुमको दुनिया दीख रही है। वेदान्ती झूठ नहीं कहेगा कि दुनिया नहीं बननी *चाहिये* थी, इसलिये है ही नहीं। यह नहीं कहेगा। वरन् कहेगा कि नहीं बननी चाहिये थी तो इसका विचार करो। जो स्थिति है, उसके बारे में विचार करना पड़ेगा। इसी प्रकार जब चिकित्साशास्त्र कार्य-कारण-भाव की युक्ति कह रहा है, अनुभव कह रहा है कि नमक नहीं खाना चाहिये, फिर भी नमक खाने में प्रवृत्ति देखते हो। इसी प्रकार चीनी का रोग है। पर मन मानता नहीं। कारण क्या है? प्रारब्ध को भोगना है! उसको कोई मिटा नहीं सकता जिसको रक्तचाप या मधुमेह का रोग भोगना है, वह खायेगा और दुःख भोगेगा। यह प्रत्यक्षसिद्ध है। शास्त्रकार कहते हैं कि यह अनुभव-सिद्ध है कि प्रारब्ध भोगने के लिये प्रवृत्ति करते हैं। अनके चीज़ों के विषय में शास्त्र से ज्ञान है, कार्य-कारण-भाव की समझ है, गुरु से, अनुभव से भी पता है, फिर भी जो प्रारब्ध भोग देने वाला है वह तब जबरदस्ती प्रवृत्ति करा ही देता है।

यह जो अवश्यम्भाविता है, इसको कोई नहीं रोक सकता। मायावी स्वर्ण-हिरण के वध के बाद लक्ष्मण जिस सीता को माता जानते रहे, उसी ने लक्ष्मण पर लांछन लगा दिया! सुमित्रा ने लक्ष्मण के कहकर भेजा था कि राम का दशरथ एवं सीता को सर्वदा मेरा स्वरूप जानकर सेवा करना। ऐसे लक्ष्मण को सीता कहती है 'भरत की ओर से तुम छल करना चाहते हो'। कल्पना कर सकते हो? राम ने सीता को अकेला छोड़कर आने को मना किया था। लक्ष्मण राम की आज्ञा का पालन न करे यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन परिस्थितिवश लक्ष्मण जाते हैं। प्रारब्ध ने ऐसी परिस्थिति बनाई कि लक्ष्मण को जाना पड़ा और ऐसी कड़वी बात सुननी पड़ी। युधिष्ठिर को जुए में अपने को हारने के बाद द्रौपदी को दाँव पर लगाने का किस विधि से अधिकार था? पर पति का पत्नी पर सदैव अधिकार रहता हैं। युधिष्ठर किस प्रकार इस कार्य में प्रवृत्त हो रहे हैं! जिस समय अवश्यम्भावी आती है, उस समय कोई रोक नहीं सकता। इसलिये जब प्रारब्ध का भोग आता है तब वैसी ही प्रवृत्ति करा लेता है, चाहे दुःख हो, चाहे सुख हो। अन्तर क्या है? जो जानने वाला है वह तो भोग से उसको चरितार्थ समझ लेता है। राम के जंगल जाने का प्रारब्ध था, भोग था, समाप्त हो गया। सीता के लक्ष्मण के प्रति शब्दों के कारण सीताहरण हो गया। लेकिन ज्ञानी पुरुष उसको पुनः याद नहीं करते। प्रारब्ध कर्मभोग से चरितार्थ हो जाता है।

भोक्तृभाव की समाप्ति

बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय के इस मन्त्र की व्याख्या चल रही है।

**'आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥'**

जब मनुष्य उस परम तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लेता है, तब किस इच्छा से और किसकी कामना से, संताप देने वाली प्रवृत्ति को करे। कल विचार किया 'किमिच्छन्', किस इच्छा से; बतलाया कि जगत्-मिथ्यात्वबोध की दृढता से, यद्यपि प्रारब्ध-कर्म-वशात् उसकी प्रवृत्ति होती है, पर वैसी जैसे बेगार में पकड़े गये मज़दूर की। उसको निश्चित पता है कि *उसको* कुछ भी मिलना नहीं है, फिर भी करना पड़ता ही है। विषयों की मिथ्यात्व-भावना रहने से उसको किसी विषय की इच्छा नहीं होती, भोग के लिये जितनी इच्छा अपेक्षित है उतनी होती है, परन्तु वह भुने बीज की तरह है।

'कस्य कामाय' किसकी कामना के लिये करे? पहला विचार था कि किस विषय की दृष्टि से इच्छा हो, अब विचार भोक्ता की दृष्टि से है कि किसकी कामना के लिये हो। पहले था किस चीज़ के लिये प्रवृत्ति करे। अब विचार है कि कौन भोग करने वाला है जिसके लिये प्रवृत्ति करे। रसगुल्ला चाहिये—यह तो हुआ विषय का विचार। रसगुल्ला बेटे के लिये चाहिये—यह हुआ भोक्ता का विचार। पदार्थ के मिथ्यात्व-ज्ञान की दृढता के

कारण कोई पदार्थ उसको खींच नहीं सकता। किन्तु प्रश्न है कि किस भोक्ता के लिये प्रवृत्ति करे? प्रवृत्ति किसी-न-किसी भोक्ता के लिये होती है। जिसको अपना स्वरूप समझता है, जो अपनी आत्मा की, अपनेपन की परिधि में है, अपनेपन की सीमा में है, उसके लिये ही प्रवृत्ति होती है। जैसे सामान्य पुरुष अपनी स्त्री, पुत्र, माँ, भाई, पिता आदि को अपनी परिधि में समझता है, इसलिये इनके लिये प्रवृत्ति करता है कि बेटे को पढ़ा दूँ, भाई को काम पर लगा दूँ आदि। जिनको अपनी परिधि से बाहर समझता है, उनके लिये प्रवृत्ति नहीं करता। पड़ौसी से सम्बन्ध नहीं, उसके लिये कोई प्रवृत्ति नहीं होती। यह परिधि छोटी या बड़ी हो सकती है। गाँव या कस्बे की सोच सकता है, पर कोई सीमा है। उस सीमा को अपनी आत्मा का स्वरूप समझ कर उसके लिये प्रवृत्ति करता है। यदि आगे विचार करके देखो, सूक्ष्म दृष्टि से सोचो, इन सब प्रवृत्तियों का आधार अपने अन्दर भोक्तापना है।

अपने अन्दर भोक्तापने का क्या प्रकार है? भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला। भोग मायने क्या? भोग मतलब है सुख और दुःख के अन्दर अभिमान कर लेना कि मैं सुखी या मैं दुःखी। बस, यही भोग है। सुख-दुःख तो अंतःकरण की वृत्ति है। सुख-दुःख का आकार तो मन लेता है। परन्तु सुख-दुःख रूपी जो विकार है, इसमें अभिमान करके 'मैं सुखी' या 'मैं दुःखी'— इस विकार का नाम ही भोग है। सुख-दुःख की प्रतीति का नाम ही भोग। सुख-दुःख के आकार का मन बना, उसके अन्दर मैं-अभिमान कर लिया। इसी का नाम भोग हो गया। जिसने यह

अभिमान किया, वह भोक्ता हो गया। इसमें दो चीज़ें हैं—एक है मन की वृत्ति जो सुख-दुःख के आकार की बनी है। मन काँच की तरह स्वच्छ पदार्थ है। जैसे काँच को सूर्य के सामने करोगे तो उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। ऐसे ही मन किसी भी आकार को लेगा, उसमें चेतन का प्रकाश पड़ेगा। सुख-दुःख के अन्दर चेतन का प्रकाश पड़ा, तभी सुख-दुःख का ज्ञान हुआ। मन तो जड है, पंच महाभूतों से बना है, इसलिये मन में ज्ञान तभी होता है जब उसमें चेतन का प्रकाश पड़ता है। परन्तु यह प्रतिबिम्ब है। बिम्ब है तब प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। सूर्य है, तब काँच में सूर्य दीख रहा है। कूटस्थ है, इसलिये सुख-दुःखाकार जो अंतःकरण की वृत्ति, उसमें चिदाभास पड़ रहा है। इसलिये अंतःकरण ने सुख-दुःख का आकार लिया, अंतःकरण के अन्दर कूटस्थ का प्रतिबिम्ब पड़ा और कूटस्थ भी वहाँ है, इन तीनों चीज़ों का नाम है भोक्ता। न केवल मन भोक्ता है, न केवल चिदाभास भोक्ता है, न केवल कूटस्थ भोक्ता है। मन ने सुख-दुःख का आकार लिया, उसमें कूटस्थ का प्रतिबिम्ब पड़ा और कूटस्थ स्वयं—ये तीनों चीज़ें मिलकर भोक्ता कही जाती हैं।

इसमें अपना-अपना योगदान समझना, किस-किस ने क्या-क्या इसमें दिया। तीन इसमें भागीदार हो गये। जैसे एक ने दुकान की जगह दी, दूसरे ने माल (रुपया) रख दिया। तीसरे ने कहा, काम (मेहनत) सारा मैं करूँगा। तीनों साझीदार बन गये। व्यापार चलने लगा। वैसे ही यहाँ मन, चिदाभास एवं कूटस्थ हैं, तीनों की साझेदारी इस भोक्तापने में है। किसकी कितनी भागेदारी है, यह समझ लेना चाहिये। मन ने तो सुख-दुःख का

रूप लिया। ज़्यादा या कम सुख या दुःख है, किस जाति का है, इसके प्रकार को लेनेवाला मन है। मैं सुखी, मैं दुखी—इस अभिमान को करने वाला चिदाभास है। कूटस्थ क्या देता है? 'कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन् अध्यस्य आत्माऽविवेकतः' (७.२००) कूटस्थ अपनी सत्यता इसको दे देता है। कूटस्थ सत्य है। इसलिये अभिमान का प्रकार बनता है, 'मैं सचमुच सुखी, या दुःखी हूँ'। कूटस्थ ने, चेतन ने सच्चाई दे दी। चिदाभास ने तो मैं-पना दिया, कूटस्थ ने सचमुच-पना दिया, सत्यता दी। कूटस्थ की सत्यता का अध्यास चिदाभास ने अपने पर किया। चिदाभास सच्चा नहीं है। सचमुच-पना तो कूटस्थ में है। उस कूटस्थ के सचमुच-पने को आभास अपने ऊपर भ्रान्ति से आरोपित कर लेता है और मानता है, 'मैं सचमुच सुखी-दुःखी हूँ'। 'तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा' क्योंकि भोक्तापना (भोग) सच्चा मानता है इसलिये 'न कदाचित् जिहासति' कभी उसे छोड़ना नहीं चाहता। सुख-दुःख भोगने को कभी छोड़ना नहीं चाहता, सचमुच का मानता है इसीलिये छोड़ना नहीं चाहता। व्यक्ति कह भी देता है 'घायल की गति घायल जाने। स्वामी जी, आपका बेटा होता और मर गया होता, तब पता चलता'। छोड़ना चाहता ही नहीं है। यदि परमात्मा की प्राप्ति करेगा तो वहाँ भी पूछता है, 'सुख का भोग होगा या नहीं? यदि नहीं, तो वह हमारे किस काम का!' अपने सुखी-दुःखी-पने से चिपट कर ही रहना चाहता है। इस तरह तीन चीज़ों से मिल करके मैं सचमुच भोक्ता बना। सुखी बने रहना चाहते हो, दुःखी नहीं रहना चाहते हो।

विचार करो : जाग्रत् काल में तुम बढ़िया मलमल के बिछौने पर सो रहे हो। भोग कर रहे हो। इसको छोड़ कर तुम स्वप्न में क्यों जाते हो? यदि वह भोग सच्चा है तो मलमल का होश तुम्हें स्वप्न में भी बना रहना चाहिये। जो सच्ची चीज़ होती है, वह सदैव उपस्थित रहती है। मलमल के साथ तुम्हारा स्पर्श भी है। पर तुम स्वप्न में क्यों जाते हो, वहाँ के पदार्थों का भोग क्यों करते हो? स्वप्न में तुम भोग कर ही रहे हो, फिर क्यों जग जाते हो, जहाँ स्वप्न का भोग है ही नहीं? यदि तुम्हारा भोक्तापना स्वप्न में सच्चा है, तो जाग्रत् में न आओ। यदि जाग्रत् में सच्चा है तो स्वप्न में न जाओ। पर जाते हो। इसलिये विचार करने पर इसकी सत्यता सिद्ध होती नहीं। भोक्तापने का सच्चापना सिद्ध नहीं होता। जाग्रत् अवस्था में स्थूल भोगों को भोगते हो। स्वप्न अवस्था में वासनामय भोगों को भोगते हो और सुषुप्ति में केवल आनन्द को भोगते हो। सुषुप्ति में न स्थूल रसगुल्ला है, न सूक्ष्म रसगुल्ला है। वासना भी वहाँ रसगुल्ले की नहीं है। परन्तु वहाँ भी आनन्द तो है ही। जाग्रत् काल में तुमको स्थूल भोग हुआ। स्वप्नकाल में सूक्ष्म भोग हुआ। इसलिये जाग्रत् का भोक्ता स्थूल है। स्वप्न का सूक्ष्म भोक्ता है। सुषुप्ति का भोक्ता कारण भोक्ता है। अपना अनुभव मिलाना : जाग्रत् का भोक्तापना स्वप्न में रहा नहीं और सपने का भोक्ता जाग्रत् में रहा नहीं। तुम वह हो जो जाग्रत् काल में भी सच्चे थे और स्वप्न काल में भी सच्चे थे। तुम उठ कर कहते हो 'मैं स्वप्न में रसगुल्ले खा रहा था'। कहते हो 'खा तो सचमुच रहा था, पर रसगुल्ले सच्चे नहीं थे।' इसलिये वहाँ जिस विषय का भोग कर रहे थे। वह झूठा था, पर भोक्तापना वहाँ भी सच ही मान रहे थे।

जाग्रत् काल के भोक्तापने को भी सत्य मान रहे हो। तुम वह हो जो जाग्रत् स्वप्न के भोक्तापने की सत्यता को देख रहे हो। परन्तु स्थूल भोक्ता जाग्रत् का, सूक्ष्म भोक्ता स्वप्न का और अतिसूक्ष्म या अव्यक्त भोक्ता, कारण भोक्ता सुषुप्ति का; ये भोक्ता तो बदलते रहे पर तुम वह हो जो सबमें एक जैसे ही रहे। इसलिये उपनिषद् बतलाती है—

'त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥'
(७.२१५)

तीन अवस्थाएँ, तीन अपने धाम, रहने की जगह हैं। तीन धाम हैं इस कूटस्थ के। तीनों धाम इसी के अन्दर हैं, इसके बाहर सत्यता रहने वाली नहीं। इस कूटस्थ में रहने वाले को अगर अलग कर लो, केवल चिदाभास भोक्ता बच जायेगा। जहाँ अपने को कूटस्थ से अलग चिदाभासरूप में इसने जाना, विवेक किया, तो पता लगेगा कि मैं झूठमूठ का भोक्ता हूँ। कूटस्थ की सत्यता के कारण मैं अपने को सच्चा भोक्ता मान रहा था, पर मैं झूठमूठ का भोक्ता हूँ, कूटस्थ के कारण सच्चा भोक्ता लग रहा था। जब चिदाभास इस बात को समझ लेता है तब उसकी 'मैं भोगूँ' यह दृढाभिलाषा समाप्त हो जाती है अतः 'कस्य कामाय' अर्थात् किसके लिये वह संसार-ताप को सहेगा! विषय और विषयी दोनों का मिथ्यापना समझ में आने से ही शोक-मोह की समग्र निवृत्ति सम्भव है, इसी के लिये आत्मसाक्षात्कार का विधान शास्त्र ने किया है।